# काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः

श्रीवामनविरचिता ।

श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचित-

कामधेनुसमाख्यव्याख्ययोल्लासिता ।

—:०:—

पण्डितकुलपति-वि, ए, इत्युपाधिधारि-

श्रीमज्जीवानन्द-विद्यासागर-भट्टाचार्य्यात्मजाभ्यां

पण्डित-श्रीआशुबोध-विद्याभूषण-

पण्डित-श्रीनित्यबोध-विद्यारत्नाभ्यां

संस्कृता प्रकाशिता च ।

तृतीयसंस्करणम् ।

कलिकातामहानगर्य्याम्

वाचस्पत्ययन्त्रे मुद्रिता ।

इं १८२२

* अयं खलु संरचितम् । आई-रौप्यैकमुद्रालभ्या ।

# विषयानुक्रमणिका ।


पृष्ठम्

शारीरं नाम प्रथममधिकरणम् । ... ३—३६

प्रथमोऽध्यायः । ... ३—११

प्रयोजनस्थापना ... ५

द्वितीयोऽध्यायः । ... १२—२३

अधिकारिचिन्ता ... १२

रीतिनिश्चयः ... १४

तृतीयोऽध्यायः । ... २४—३६

काव्याङ्गानि ... २४

काव्यविशेषः ... ३२

दोषदर्शनं नाम द्वितीयमधिकरणम् । ... ३७—६७

प्रथमोऽध्यायः । ... ३७—५०

पददोषाः ... ३८

पदार्थदोषाः ... ४१

द्वितीयोऽध्यायः । ... ५१—६७

वाक्यदोषाः ... ५१

वाक्यार्थदोषाः ... ५६

गुणविवेचनं नाम तृतीयमधिकरणम् । ... ६८—८६

पृष्ठम्

प्रथमोऽध्यायः । ... ६८—८२

गुणालङ्कारविवेकः ... ६८

शब्दगुणविवेकः ... ७०

द्वितीयोऽध्यायः । ... ८३—८६

अर्थगुणविवेचनम् ... ८३

आलङ्कारिकं नाम चतुर्थमधिकरणम् । ... ८७—१४७

प्रथमोऽध्यायः । ...८७—१०९

शब्दालङ्कारविचारः ... ८७

द्वितीयोऽध्यायः । ...११०—१२३

उपमाधिकारे उपमानिरूपणम् ... ११०

उपमाधिकारे उपमादोषकथनम् ... ११४

तृतीयोऽध्यायः । ...१२४—१४७

उपमाप्रपञ्चाधिकारः ... १२४

प्रायोगिकं नाम पञ्चममधिकरणम् । ... १४८—१८६

प्रथमोऽध्यायः । ... १४८—१५५

काव्यसमयः ... १४८

द्वितीयोऽध्यायः । ... १५६—१८६

शब्दशुद्धिः ... १५६

# अकारादिक्रमेण सूचानुक्रमणिका ।


| विषया: | | पृष्ठाङ्का: |
|---|---|---|
| **अ** | | |
| अग्राम्यत्वमुदारता | ... | ९३ |
| अजरठत्वं सौकुमार्य्यम् | ... | ७९ |
| अतद्रूपस्यान्यथा | ... | १३१ |
| अतिप्रयुक्तं | ... | १५३ |
| अनाविद्धललितपदं | ... | ३३ |
| अनुक्तौ समासोक्ति: | ... | १२५ |
| अनुचरीति | ... | १७० |
| अनुपपत्तिरसम्भव: | ... | १२२ |
| अनुल्वण: | ... | १०७ |
| अनैकान्त्याच्च | ... | ७७ |
| अन्याभ्यां वाक्यं | ... | ४९ |
| अन्यव अरूढ़त्वात् | ... | ४८ |
| अन्यनेयगूढ़ार्थाश्लील | ... | ४१ |
| अपाङ्गनेवेति | ... | १८६ |
| अपारुष्यं सौकुमार्य्यम् | ... | ९२ |
| अप्रतीतगुण | ... | १२० |
| अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं | ... | ४४ |
| अप्रसिद्धासभ्यं | ... | ४५ |
| अभिधानकोषत: | ... | २५ |
| अरीचकिन: | ... | १२ |
| अर्थतत्तदवगम: | ... | ३७ |
| अर्थदृष्टि: समाधि: | ... | ८९ |
| अर्थवैमल्यं | ... | ८६ |
| अर्थव्यक्तिहेतुत्वम् | ... | ८० |
| अर्थस्य प्रौढि: | ... | ८३ |
| अर्थो द्विविध: | ... | ८९ |
| अलङ्कारस्यालं | ... | १४५ |
| अवतरापचाय | ... | १७३ |
| अवर्ज्यौ बहु | ... | १६५ |
| अविधौ गुरो: | ... | १७४ |
| अवैषम्यं समता | ... | ८७ |
| अवैहीति व्रड्डि: | ... | १८६ |
| असभ्यार्थान्तरम् | ... | ४४ |
| असाहश्यहता | ... | १२१ |
| अहितौ हन्तेर्णिच् | ... | १६९ |
| **आ** | | |
| आमूललोलादिषु | ... | १६३ |
| आरोहावरोहक्रम: | ... | ७५ |
| आरोहावरोहनिमित्तं | ... | ७८ |
| आसेत्यसते: | ... | १६८ |
| आहेति भूते | ... | १७४ |
| **इ** | | |
| इतिवृत्तकुटिलत्वं | ... | २९ |
| इष्ट: पुंनपुंसकयो: | ... | ११९ |
| **उ** | | |
| उक्तसिद्धै: | ... | १३८ |
| उक्तार्थपदम् | ... | ५७ |
| उक्तिवैचित्र्य | ... | ९२ |
| उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षा | ... | १४६ |
| उपमाजन्यं रूपकम् | ... | ,, |
| उपमानाक्षेप: | ... | १४३ |
| उपमानाधिक्यात् | ... | १२१ |
| उपमानेनोपमेयस्य गुण | ... | ११० |
| उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात् | | १२७ |
| उपमानोपमेययोर्लिङ्ग | ... | ११८ |
| उपमानोपमेयवाक्येष्वेका | ... | १३७ |
| उपमानोपमेयसंशय: | ... | १३३ |

| विषयाः | | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|---|
| उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं | ... | १४० |
| उपमयस्योक्तौ | ... | १२५ |
| उपमेयोपमानानां | ... | १३६ |
| उपर्य्यादिषु सामीप्ये | ... | १९२ |
| **ऊ** | | |
| ऊकारान्तादप्यूङ् | ... | १७७ |
| **ए** | | |
| एकगुणहानि | ... | १४१ |
| एकस्योपमेयत्वोपमानत्वे | ... | १३४ |
| **ओ** | | |
| ओजःकान्तिमती | ... | १८ |
| ओजःप्रसादयोः | ... | ७७ |
| ओजःप्रसादश्लेष | ... | ७० |
| **औ** | | |
| औज्ज्वल्यं कान्तिः | ... | ८० |
| औपम्यादयः | ... | १८० |
| **क** | | |
| कङ्कीया इति | ... | १८२ |
| करिकलभशब्दे | ... | ६० |
| कर्णावतंसश्रवण | ... | ५८ |
| कलाचतुर्वर्गे | ... | ६५ |
| कलाशास्त्रेभ्यः | ... | २७ |
| कल्पितार्थं नेयार्थम् | ... | ४३ |
| कवित्वबीजं | ... | ३० |
| कामयानशब्दः | ... | १९० |
| कामशास्त्रतः | ... | २८ |
| कार्त्तिकीय इति | ... | १७८ |
| काव्यं गद्यं पद्यञ्च | ... | ३२ |
| काव्यं ग्राह्यमलं | ... | ५ |
| काव्यं सदृष्टादृष्टार्थं | ... | १० |

| विषयाः | | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|---|
| काव्यबन्धोद्यमः | ... | २९ |
| काव्यशोभायाः | ... | ६८ |
| काव्योपदेशगुरु | ... | ३० |
| किञ्चिदुक्तावप्रस्तुत | ... | १२६ |
| केसरालमित्यलतेरपि | ... | १७० |
| कौशिलादय इलचि | ... | १८३ |
| क्रमविधानार्थत्वाद्वा | ... | ७८ |
| क्रमसिद्धिस्तयोः | ... | ३४ |
| क्रमहीनार्थम् | ... | ६२ |
| क्रमेणोपमेयोपमा | ... | १३५ |
| क्रिययैव स्वतदर्थान्वय | ... | १३७ |
| क्रियाप्रतिषेधे | ... | १३४ |
| क्षतदृढोरस इति | ... | १८५ |
| क्षीयते इति | ... | १५८ |
| **ख** | | |
| खिद्यते इति च | ... | १५९ |
| **ग** | | |
| गच्छतीप्रभृतिषु | ... | १९० |
| गद्यं वृत्तगन्धि | ... | ३२ |
| गाढ़बन्धत्वमोजः | ... | ७२ |
| गुणः संप्लवात् | ... | ,, |
| गुणद्योतकोपमानोपमेय | ... | ११३ |
| गुणबाहुल्यतश्च | ... | १११ |
| गुणविपर्य्ययात्मानः | ... | ३७ |
| गुणविस्तरादयः | ... | १७२ |
| **घ** | | |
| घटना श्लेषः | ... | ८६ |
| **च** | | |
| चञ्चिडो द्यनुबन्ध | ... | १५८ |
| चतुरश्रशोभीति | ... | १८१ |

| विषया: | | पृष्ठाङ्का: |
|---|---|---|
| चित्तैकाग्र्यम् | ... | ३१ |
| **छ** | | |
| छन्दोविचितेर्वृत्त | ... | २७ |
| **ज** | | |
| जम्बुलतादय: | ... | १८७ |
| जातिप्रमाण | ... | ११४ |
| **त** | | |
| त एवार्यगुणा: | ... | ८३ |
| ततोऽन्यभेद | ... | ३६ |
| तत्तु न, अतत्त्वशीलस्य | ... | २१ |
| तत्त्रिविधम्, आदि | ... | १२७ |
| तत्त्रिविध्यं व्रीड़ा | ... | ४७ |
| तत्र काव्यपरिचय: | ... | २९ |
| तदतिशयहेतव: | ... | ६९ |
| तदनिबद्धं निबद्धञ्च | ... | ३४ |
| तदारोहणार्थम् | ... | २१ |
| तदिदं प्रयुक्तेषु | ... | ६१ |
| तदुपारोहादर्थ | ... | २२ |
| तद्देशकालाभ्याम् | ... | ३१ |
| तद्वैविध्यं | ... | ११२ |
| तद्धातुनामभागभेदे | ... | ५२ |
| तद्धि चित्रं चित्रपटवत् | ... | ३५ |
| तद्वैदावुपमा | ... | १४५ |
| तस्यामर्थगुणसम्पत् | ... | २२ |
| तासां पूर्वा याच्ञा | ... | २० |
| तिरस्कृत इति | ... | १६१ |
| तिलकादयोऽजिरादिषु | ... | १८८ |
| तेन वचनभेद: | ... | १२० |
| तेन विपर्य्यय: | ... | १५१ |
| तेनाधिकत्वं | ... | ११७ |
| तेनावन्तिसेनादय: | ... | १९४ |
| तेमेशब्दौ | ... | १६० |
| तैर्महीधरादय: | ... | १७२ |
| त्रिबलीशब्द: | ... | १६२ |
| **द** | | |
| दण्डनीतेर्नया | ... | २८ |
| दारवशब्द: | ... | १७९ |
| दीप्तरसत्वं कान्ति: | ... | ९४ |
| दुर्गन्धिपदे | ... | १८४ |
| दुष्टं पदमसाधु | ... | ३८ |
| दूरयतीति बहुल | ... | १८९ |
| दृढ़भक्तिरसौ | ... | १८७ |
| देशकालस्वभाव | ... | ६३ |
| **ध** | | |
| धनुर्ज्याध्वनौ | ... | ५८ |
| धन्वीति व्रीह्यादि | ... | १८० |
| धर्मयोरेकनिर्देशे | ... | ११६ |
| **न** | | |
| न कृतकं षड्ज | ... | १४ |
| न कर्मधारय: | ... | १५१ |
| न क्रमिकीटानाम् | ... | १६८ |
| न खरोष्ट्रौ | ... | ” |
| न गद्ये समाप्तप्रायं | ... | १५० |
| न गुप्तलक्षित | ... | ४५ |
| न तद्धाहुल्यम् | ... | १५४ |
| न धान्यषष्ठादिषु | ... | १६४ |
| न घृतधनुषीति | ... | १८४ |
| न निद्रादुर्गिति | ... | १९३ |
| न पाठधर्मा: | ... | ८२ |

| विषयाः | | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|---|
| न पादादौ खल्वादयः | ... | १५० |
| न पादान्तलघोः | ... | १४९ |
| न पुनरितरे | ... | २१ |
| न पृथक् | ... | ७६ |
| न भान्ता निष्कम्पत्वात् | ... | ८२ |
| न, लक्षणः पृथक्त्वात् | ... | ५४ |
| न वाक्यालङ्कारार्थम् | ... | ४१ |
| न विरुद्धोऽतिशयः | ... | १२३ |
| न विशेषश्चेत् | ... | ५८ |
| न वृत्तदोषात्पृथक् | ... | ५४ |
| न शणसूत्रवानाभ्यासे | ... | २१ |
| न शास्त्रमद्रव्येषु | ... | १३ |
| न शुद्धः | ... | ७२ |
| न सरजसमिति | ... | १८४ |
| नाङ्गुलिसङ्ग इति | ... | १९३ |
| नानिबद्धं चकास्त्येकतेजः | ... | ३५ |
| नापृष्टार्थत्वात् | ... | १२१ |
| नार्द्रं किञ्चित्समाप्तं | ... | १५० |
| नासन्तः, संवेद्यत्वात् | ... | ८१ |
| नासम्पृक्तत्वात् | ... | ७६ |
| नित्या संहितैकपदवत् | ... | १४९ |
| निपातेनाप्यभिहिते | ... | १६६ |
| निशम्यनिशमय्य | ... | १८८ |
| निष्यन्द इति षत्वं | ... | १९३ |
| नेतरे, तद्विपर्ययात् | ... | १३ |
| नेन्द्रवाहने णत्वम् | ... | १९४ |
| नेष्टाः श्लिष्टप्रियादयः | ... | १८६ |
| नैकं पदं द्विः | ... | १४८ |
| नैकशब्दः सुप्सुपेति | ... | १६१ |

| विषयाः | | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|---|
| **प** | | |
| पक्षपीतिमादिषु | ... | १६४ |
| पक्षलमिति | ... | १७० |
| पदमनेकार्थमन्यत् | ... | ९८ |
| पदसन्धिवैरूप्यम् | ... | ५५ |
| पदाधानोऽरण्यम् | ... | ३० |
| पद्यभागवदृत्तगन्धि | ... | ३३ |
| पद्यमनेकभेदम् | ... | ३४ |
| पादः पादस्यैकस्यानेकस्य | ... | ९९ |
| पादानुप्रासः | ... | १०८ |
| पिण्डाक्षरभेदे | ... | १०५ |
| पुष्पमालाशब्दे | ... | ६० |
| पूरणार्थमनर्थकम् | ... | ४० |
| पूर्वनिपातेऽपभ्रंशः | ... | १६६ |
| पूर्वे नित्याः | ... | ७० |
| पूर्वं शिष्या विवेकित्वात् | ... | १२ |
| पृथक्पदत्वं | ... | ७९ |
| प्रतिवस्तुप्रभृतिः | ... | १२४ |
| प्रपीयेति पीङः | ... | १८९ |
| प्राणिनि नीलेति | ... | १७५ |
| प्रातिभाद्यः | ... | १८३ |
| **ब** | | |
| बलेरात्मनेपदम् | ... | १५७ |
| बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायाम् | ... | १८२ |
| ब्रह्मविदादयः | ... | १७१ |
| ब्रह्मादिषु इन्तेः | ... | ,, |
| **भ** | | |
| भङ्गादुत्कर्षः | ... | १०३ |
| भिदुरादयः कर्मं | ... | १७२ |
| भिन्नवृत्तयतिभ्रष्ट | ... | ५१ |

| विषयाः | | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|---|
| **म** | | |
| मधुपिपासुप्रश्नतौनां | ... | १६२ |
| मनुष्यजातेः | ... | १७६ |
| मन्दं मन्दमित्यप्रकारार्थत्वे | ... | १९२ |
| मसृणत्वं श्लेषः | ... | ७४ |
| महौघ्रादयो मूल | ... | १७१ |
| माधुर्य्यसौकुमार्य्योपपन्ना | ... | १९ |
| मायादिविकल्पितार्थस् | ... | ६२ |
| मार्गभेदः समता | ... | ७४ |
| मार्गैरात्मनेपदम् | ... | १५९ |
| मिवेण गोप्वेति | ... | १९० |
| मिलिल्लवि | ... | १५७ |
| मुक्ताहारशब्दे | ... | ५९ |
| मुग्धमादिष्विमनिज् | ... | १७९ |
| मौक्तिकमिति | ... | १८३ |
| **य** | | |
| यत्साहश्यं तत् | ... | १४४ |
| युध्येदिति युधः | ... | १६९ |
| **र** | | |
| राजवंश्यादयः साध्वर्थे | ... | १७८ |
| रात्रियामस्तुरीयः | ... | ३१ |
| रीतिरात्मा काव्यस्य | ... | १४ |
| रुद्राविल्येकशेषः | ... | १५६ |
| रुढ़िच्युतमन्यार्थम् | ... | ४१ |
| **ल** | | |
| लक्षणाशब्दाश्च | ... | १५४ |
| लक्ष्यज्ञत्वमभियोगः | ... | २९ |
| लभेर्गत्यर्थत्वात् | ... | १६० |
| लाक्षणिकाप्रसिद्धं | ... | ४६ |
| लिङ्गाध्याहारौ | ... | १५३ |

| विषयाः | | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|---|
| लोकमात्रप्रयुक्तं | ... | २९ |
| लोकवृत्तं लोकः | ... | २४ |
| लोकसंवीतं | ... | ४६ |
| लोकी विद्या प्रकीर्णं | ... | २४ |
| लोपे लुप्ता | ... | ११३ |
| लौलमानादयः | ... | १५९ |
| लौकिक्यां समासाभिहितायाम् | ... | ११९ |
| **व** | | |
| वर्णविच्छेदचलनं | ... | १०४ |
| वस्तुहयक्रिययोः | ... | १४४ |
| वस्तुस्वभावस्फुटत्वम् | ... | ९४ |
| विकटत्वमुदारता | ... | ७९ |
| विदर्भादिषु दृष्टत्वात् | ... | १५ |
| विपरीतमुल्कलिका | ... | ३३ |
| विम्बाधर इति | ... | १६३ |
| विरम इति निपातनात् | ... | १९१ |
| विरलायमानादिषु | ... | १६९ |
| विरसविरामं | ... | ५२ |
| विरुद्धाभासत्वं | ... | १३३ |
| विरूपपदसन्धि | ... | ५५ |
| विविक्तो देशः | ... | ३१ |
| विशिष्टा पदरचना | ... | १४ |
| विशिष्टेन सामान्यार्थस् | ... | १४३ |
| विशेषणसाम्य | ... | १५२ |
| विशेषणस्य च | ... | ६० |
| विशेषापेक्षित्वात् | ... | ७८ |
| विशेषो गुणात्मा | ... | १५ |
| वेत्यसीति पदभङ्गात् | ... | १९० |
| व्यक्तः सूक्ष्मश्च | ... | ९० |

| विषयाः | | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|---|
| व्यर्थैकार्थं | ... | ५६ |
| व्यवसितादिषु | ... | १७४ |
| व्यवहितार्थप्रत्ययं | ... | ४८ |
| व्याजस्य सत्यसारूप्यं | ... | १४२ |
| व्याहतपूर्वोत्तरार्थं | ... | ५७ |
| **श** | | |
| शक्यमिति रूपं | ... | १६७ |
| शबलादिभ्यः | ... | १७५ |
| शब्दस्मृतिविरुद्धम् | ... | ३८ |
| शब्दस्मृतेः शब्दशुद्धिः | ... | २५ |
| शब्दस्मृत्यभिधान | ... | २४ |
| शार्वरमिति च | ... | १७८ |
| शाश्वतमिति प्रयुक्तेः | ... | ” |
| शास्त्रतस्ते | ... | ९ |
| शास्त्रभावप्रयुक्तम् | ... | ४० |
| शृङ्खला परिवर्त्तकः | ... | १०३ |
| शेषः सरूपोऽनुप्रासः | ... | १०७ |
| शैथिल्यं प्रसादः | ... | ७२ |
| श्रीभेति निपातनात् | ... | १७३ |
| श्रुतिविरसं कष्टम् | ... | ३९ |
| **ष** | | |
| ष्यञः षित्करणात् | ... | १८० |
| **स** | | |
| संशयस्यनियम्यशब्दौ | ... | १८९ |
| संशयकृत्सन्दिग्धम् | ... | ६१ |
| सङ्कविनिवृत्तौ | ... | १०४ |
| स त्वनुभवसिद्धः | ... | ७३ |
| स दोषगुणालङ्कार | ... | ९ |
| सु सर्मेषु तत्त्वप्रयोगे | ... | १२८ |

| विषयाः | | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|---|
| सन्दर्भेषु दशरूपकं | ... | ३५ |
| समग्रगुणोपेता | ... | १९ |
| समविसदृशाभ्यां | ... | १३५ |
| समेन वस्तुनाऽन्यापलापः | ... | १२९ |
| सम्बन्धमसम्बन्धेऽपि | ... | १५२ |
| सम्भाव्यधर्मस्य | ... | १३२ |
| सम्भाव्यनिषेध | ... | १५१ |
| सम्भाव्यविशिष्ट | ... | १४२ |
| सर्वनाम्नाऽनुसन्धिः | ... | १५२ |
| सा विधा वैदर्भी | ... | १५ |
| साहश्याल्लक्षणा | ... | १२९ |
| सापि वैदर्भी | ... | २३ |
| सापि समासाभावे | ... | २२ |
| सा पूर्णा लुप्ता च | ... | ११३ |
| सामग्र्यामित्यादिषु | ... | १८० |
| साम्योत्कर्षौ च | ... | ७३ |
| सुदत्यादयः | ... | १८५ |
| सूक्ष्मो भाव्यः | ... | ९१ |
| सौकर्य्याय प्रपञ्चः | ... | ३८ |
| सौन्दर्य्यमलङ्कारः | ... | ७ |
| सौहृददौर्हृद | ... | १९१ |
| स्तनादीनां | ... | १५५ |
| स्तुतिनिन्दा | ... | ११४ |
| स्खलल्लक्षणच्युतवृत्तं | ... | ५१ |
| **ह** | | |
| हस्त्यायश्वहस्त्यादयः | ... | १६५ |
| हानिवदाधिक्यम् | ... | १६८ |
| हीनत्वाधिकत्व | ... | ११४ |


—:※:—

# टीकाकृन्मङ्गलाचरणम् ।



कल्याणानि करोतु नः स भगवान् क्रीडावराहाऽऽकृति-
दँष्ट्राऽग्रेण नवप्ररोहपुलकां देवीं धरामुद्वहन् ।
यस्याङ्गेषु वहन्ति लोमविवराऽऽलग्ना महाऽम्भोधयः
कान्तास्पर्शसुखादिव प्रकटितां स्वेदोदबिन्दुश्रियम् ॥ १ ॥

दूरोन्मीलत्फालद्युतिमदमृतस्यन्दिशुभिकं
भ्रमन्मीनोष्णीषं पदसरणिपारीणवलयम् ।
विराजद्भावव्यतिकरितपुण्यावसुभगं
पुरस्तादाविःस्ताद्भुवनपितरौ ! तन्मम महः ॥ २ ॥

ओङ्कारसणिघण्टाऽनुरणन्निगलहंहितम् ।
चित्ते शृङ्खलितं भक्त्या चिन्तये चिन्मयं गजम् ॥ ३ ॥

करुणामसृणाऽऽलोकप्रवणा शरणार्थिषु ।
प्रगुणाऽऽभरणा वाणी स्मरणानुगुणाऽस्तु मे ॥ ४ ॥

उन्मीलत्प्रतिभानकन्दमुदयत्सन्दर्भनालं लसत्
श्लेषाद्याकुलशब्दपद्मवलं बन्धारविन्दं सदा ।
अध्यासीनमलङ्क्रियापरिलसद्गन्धं वचोदैवतं
वन्दे रीतिविकाशमाशु विगलन्माधुर्यपुष्पाऽऽसवम् ॥ ५ ॥

नमस्कुर्वे खर्वेतरविविधविद्याविलसितान्
प्रवाचः प्राचोऽहं प्रथितयशसो भामहमुखान् ।
कृता यैरर्थानां कृतिषु नयचर्चा सदसतां
प्रभेवाभिव्यक्तिं प्रजनयति भासामधिपतेः ॥ ६ ॥

पावनी वामनस्येयं पदीन्नतिपरिष्कृता ।
गम्भीरा राजते वृत्तिर्गङ्गेव कविहर्षिणी ॥ ७ ॥

प्रबन्धं तालानां भवनुतिमिषेणातनुत यः
शिवाकृताकारा नटनकरणानामपि भिदाः ।
स वृत्तेर्व्याख्यानं सरलरचनं वामनकृते-
र्विधत्ते गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालतिलकः ॥ ८ ॥

पावनपदविन्यासा समग्ररसदोहशालिनी भजताम् ।
घटयति कामितमर्थं काव्यालङ्कारकामधेनुरियम् ॥ ९ ॥

यत्रोपयुज्यते यावत् तावत् तत्र निरूप्यते ।
प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन नात्र किञ्चित् प्रपञ्च्यते ॥ १० ॥

अभ्यर्थके मय्यनुकम्पया वा साहित्यसर्वस्वसमीहया वा ।
मदीयमार्याः ! मनसा निबन्धमसुं परीक्षध्वमसत्सरेण ॥ ११ ॥

अध्याये प्रथमे काव्यप्रयोजनपरीक्षणम् ।
अधिकारिविचारश्च द्वितीये रीतिनिश्चयः ॥ १२ ॥

काव्याङ्गकाव्यभेदानां तृतीये प्रतिपादनम् ।
तुर्ये पदपदार्थानां दोषतत्त्वविवेचनम् ॥ १३ ॥

वाक्यवाक्यार्थदोषाणां पञ्चमे तु प्रपञ्चनम् ।
गुणालङ्कारभेदेषु षष्ठे शब्दगुणाख्या ॥ १४ ॥

सप्तमेऽर्थगुणाः शब्दालङ्काराः पुनरष्टमे ।
उपमा नवमे तस्याः प्रपञ्चो दशमे भवेत् ॥ १५ ॥

काव्यस्यैकादशे संवित् द्वादशे शब्दशोधनम् ।
इत्येष द्वादशाध्यायी-प्रमेयाणामनुक्रमः ॥ १६ ॥

# काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः।

## शारीरं नाम प्रथममधिकरणम्।

## प्रथमोऽध्यायः।

प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषां * वृत्तिर्विधीयते॥ (क)

(क) अथ ग्रन्थकारः स्वकर्त्तृकाणि सूत्राणि व्याकर्त्तुकामः, प्रारम्भ एव प्राचीनाचार्य्यपरम्परासमाचारपरिप्राप्तकर्त्तव्यभावेतिकर्त्तव्यताविशेषरूपमङ्गलानुष्ठानेन स्वयं प्रारिप्सितग्रन्थपरिसमाप्तिपरिपन्थिप्रत्यूहव्यूहप्रतिहननप्रगल्भसमग्रदेवतानुग्रहसम्पन्नोऽपि, व्याख्यातॄणामविघ्नव्याख्यानश्रवणलाभाय ग्रन्थादौ तन्मङ्गलनिबन्धनपूर्वकं तत्प्रवृत्तिसिद्धये विषयप्रयोजनादि निर्दिश्य दर्शयन्नाद्येन पद्येन कर्त्तव्यं प्रतिजानीते, प्रणम्येति।—भक्तिश्रद्धाऽतिशयलक्षणः प्रकर्षः प्रशब्देनात्र प्रकाश्यते, तादृगेव हि मङ्गलमन्तरायसन्तानशान्तिं सन्तनोति; अन्यथा कृतायामपि नतौ प्रारिप्सितग्रन्थपरिसमाप्तिं न सम्पादयेत्, किरणावल्यादौ तथा दर्शनात्। अथ कथमिह नमिः सकर्म्मकः स्यात्? प्रह्वीभावप्रवृत्तेरस्याकर्म्मकत्वात् "नमन्ति शाखा नवमञ्जरीभिः" इत्यादिप्रयोगदर्शनाच्च; न चायमुपसर्गवशात् सकर्म्मकः, प्रशब्दस्य प्रकर्षमाचार्थत्वेन कर्म्मसम्बन्धोपपादकत्वायोगात्; "नमामि देवम्" इत्यादावुपसर्गस्याप्यभावात्, न चायमन्तर्भावितण्यर्थः, अनौचित्यप्रसङ्गादिति;—तदेतत् पाणिनिफणितिपारायणपरिणतान्तःकरणानामस्माकं चेतसि चोद्यं न चातुरीमाचरति। तथा हि, यथा जयतिरकर्म्मकः प्रकर्षेण वर्त्तने, पराजये तु सकर्म्मकः, तथा नमिधातुः क्वचित् प्रह्वीभावार्थः, क्वचिन्नमस्कारार्थश्च भवति। तत्र यदा प्रह्वी-

* "स्वेषाम्" इत्यत्र "स्वर्था" इति पाठान्तरे,—स्वर्था—सुगमार्था इत्यर्थः।

भावमात्रविवक्षया प्रयुज्यते, तदानीमिषोऽकर्मकः, यदा नमस्कारार्थविवक्षया प्रयुज्यते, तदा सकर्मक इति विवेकः। यद्येवं, तर्हि "देवं प्रणतः" इत्यत्र कर्तरि क्तप्रत्ययो न सिध्येत्, "सकर्माकर्मकाङ्गतीः क्तौ भवेत् कर्मभावयोः" इति सकर्मकाङ्गतीः कर्मणि क्तविधानात्, गत्यर्थाकर्मकादिषु नमेः परिगणनाऽभावाच्च इत्यपि न चोदनीयम्; "व्यवसितादिषु क्तः कर्तरि चकारात्" (५अधि० २अ० ४३सू०) इतीहैव वक्ष्यमाणेन सूत्रेण नमेरपि कर्तरि क्तप्रत्ययसम्भवात्। व्यवसितः प्रतिपन्न इत्यादिषु गत्यर्थादिसूत्रे चकारादनुक्तसमुच्चयार्थात् कर्तरि क्तप्रत्ययो भवतीति हि तस्य सूत्रस्यार्थः। परमं परिदृश्यमानज्योतिःपरिपाटीमतिवर्त्तमानं, ज्योतिः चिन्मयम्। "परमं ज्योतिः प्रणम्य" इत्यत्र वाक्यार्थसामर्थ्येन, निखिलनिगमनीरजराजिराजहंसस्य परमहंसभावनापदवीदवीयसः परस्य ब्रह्मणो यत् पारमार्थिकं रूपं, तदेव प्रणिधानबलेन प्रसुषितविषयान्तरप्रसङ्गे प्रहर्षतरङ्गितेऽन्तःकरणे प्रत्यक्षतोऽनुभवन् प्रणामप्रचयेन पर्य्यचरदिति प्रतीतेः परमयोगित्वमस्य प्रबन्धुः प्रत्याय्यते। वामनेनेति।—निजनामनिर्देशो यशःप्रकाशनाय। कवीन् प्रीणातीति कविप्रीः, ["अन्येभ्योऽपि दृश्यते" (३।२।१७८ पा०) इति क्विप्प्रत्ययः) तेन कविप्रियेति तृतीयान्तं कर्त्तृविशेषणं, कवीनां प्रियेति प्रथमान्तं वा कर्मविशेषणम्]। काव्येति।—"कवनीयं काव्यम्" इति लोचनकारः। "कवयति इति कविः, तस्य कर्म काव्यम" इति विद्याधरः। "कौति शब्दायते, विस्मृशति रसभावान् इति कविः, तस्य कर्म काव्यम्" इति भट्टगोपालः। "लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म काव्यम्" इति काव्यप्रकाशकारः। भामहोऽपि "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। तदनुप्राणनाज्जीवेत् वर्णनानिपुणः कविः॥ तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्" इति। तदेतत् काव्यशब्दव्युत्पत्तिकथनम्। चारुताशालिशब्दार्थयुगलं काव्यमिति रूढ्योऽर्थः, तस्य अलङ्कारः अलङ्कृतिः, [भावे घञ्] दोषहानगुणालङ्कारादानाभ्यामाधीयमानं सौन्दर्य्यमिति यावत्, तत्प्रतिपादकानि सूत्राणि, तेषाम्। सूत्रलक्षणमुक्तं भामहेन,—"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवत् विश्वतोमुखम्। सम्यक्संसूचितार्थं यत् तत् सूत्रमिति कथ्यते॥" इति। स्वेषामिति।—सूत्रवृत्त्योरेककर्तृकत्वप्रतिपादनेन सूत्रकाराभिमतार्थप्रतिपादिनी वृत्तिः, वृत्तेरन्यकर्तृकत्वशङ्काविरहश्चेत्युभयमप्युपक्षिप्यते। वर्तते अस्यां सूत्राणां यथावत् पदपदार्थविवेक इति वृत्तिः। [अधिकरणार्थे क्तिन्प्रत्ययः] वृत्तिलक्षणमुक्तं भामहेन,—"सूत्रमात्रस्य या व्याख्या सा वृत्तिरभिधीयते।" इति। "काव्यालङ्कारसूत्राणां वृत्तिः" इत्यनेन विषयसम्बन्धौ सूचितौ। "कविप्रिया" इत्यनेन अधिकारिप्रयोजने सूचिते। तदेतदनुबन्धचतुष्टयमुत्तरत्र विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते।

## काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् ॥ १ ॥

काव्यं खलु ग्राह्यमुपादेयं भवति अलङ्कारात्। काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते। भक्त्या * तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते। ( ख )

( ख ) ननु काव्यस्य कः पुनरलङ्कारादुपकारः, येन प्रतिज्ञायमानं तत्सूत्रवृत्तिविधानं सफलं स्यात् ? इति शङ्कामपनेतुमलङ्कारप्रयोजनप्रतिपादकमादिमं सूत्रमुपादत्ते, काव्यमिति।—खलु शब्दो वाक्यालङ्कारे। यदुक्तम्—"वाक्यालङ्कारप्रयोजनन्तु नानर्थकम् ;—तथा खलु हि हन्त" इति ( २ अधि० १ अ० ) सूत्रस्य वृत्तिः। काव्योपादाननिदानत्वादलङ्कारो भवत्युपयोगीति भावः। ननु काव्यमेव तावदुपादेयं चेत्, अलङ्कारस्यापि तदुपादानहेतुत्वमुपपद्येत, तत्सूत्रवृत्तिविधानञ्च सफलं स्यात् ; तस्योपादेयत्वमेव कुतः इति चेत् ? अत्र वक्तव्यम् ;—यत् काव्यमुपादेयं न भवतीति, तत् कस्य हेतोः ? न तावदृषिप्रणीतत्वाभावादनुपादेयत्वं, वाल्मीकिवोधायनप्रभृतिभिरपि महर्षिभिः काव्यस्य प्रणयनात्। नापि पुरुषप्रणीतत्वात्, शास्त्रनिबन्धनानामपि तथात्वेनानुपादेयत्वप्रसङ्गात्। न च काव्यत्वात्, रामायणादावनैकान्तिकत्वात्। तस्यापि पञ्चसमत्वशङ्कायामेकैकाक्षरीद्वारेणेऽपि फलविशेषवचनविरोधः। नापि दृष्टप्रयोजनाभावात्, दृष्टप्रयोजनानां बहूनामुपदिष्टत्वात्। तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे,—"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥" इति। नाप्यदृष्टप्रयोजनाभावात्, स्वर्गापवर्गलक्षणस्यादृष्टप्रयोजनस्य शिष्टैरनुशिष्टत्वात्। यदाहुः, —"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्त्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥" इति। काव्यादर्शेऽपि—"चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम्।" इति। इहापि "काव्यं सत—"( १अधि० १अ० ५सू० ) इति वक्ष्यमाणत्वाच्च। अथ मन्यसे "काव्याऽऽलापांश्च वर्जयेत्"इति निषेधवचनादनुपादेयत्वं काव्यस्येति, तदप्यनालोचितचतुरम् ; काव्याऽऽलापनिषेधवचनस्यासत्काव्यविषयत्वेन व्यवस्थापनात्। यदाह विद्यानाथः,—"यत्र पुनरुत्तमपुरुषचरितं न निबध्यते, तत् काव्यं परित्याज्यमेव। तद्विषया च स्मृतिः, काव्याऽऽलापांश्च वर्जयेदिति" इति। न केवलं विषयवैगुण्येनासाधुत्वं काव्यस्य,

* "भक्त्या" इत्यत्र "शक्त्या" इति पाठे शब्दशक्त्या, शब्दनिष्ठार्थबोधकतारूपवृत्त्या इत्यर्थः।

किन्तु प्रबन्धुः प्रतिभादौर्बल्यकुलवैकल्याभ्यामपि भवति। तदुक्तं काव्यादर्शे—"तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन। स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥" इति। कविगजाङ्कुशे,—"शुनीदुग्धमिव त्याज्यं पद्यं शूद्रकृतं बुधैः। गवामिव पयो ग्राह्यं काव्यं विप्रेण निर्मितम्॥" इति। उत्तमपुरुषकथाकथनन्तु काव्यं ग्राह्यमेव। तदुक्तं भामहेन,—"उपस्थोक्यस्य माहात्म्यादुज्ज्वलाः काव्यसम्पदः।" इति। भट्टोद्भटेनापि कथितम्,—"गुणालङ्कारचारुत्वयुक्तमप्यधिकोज्ज्वलम्। काव्यमात्मयशस्पत्त्या मेरुणेवामरद्रुमः॥" इति। भोजराजेनापि कथितम्;—"कवेरल्पाऽपि वाग्वृत्तिर्विदग्धकर्णावतंसति। नायको यदि वर्ण्येत लोकोत्तरगुणोत्तरः॥" इति। किं बहुना, प्रतिपाद्यमहिम्ना प्रबन्धप्रशस्तिरिति शास्त्राणामपि समानमेतत्। तथा हि, न्यायवैशेषिकशास्त्रयोरीश्वरप्रतिष्ठापकतया पूर्वोत्तरमीमांसयोर्धर्मब्रह्मप्रतिपादकतया च महनीयत्वम्। तत्त्वचिन्तायान्तु शास्त्राणामपि काव्यमुखप्रेक्षितया कार्यकारित्वमित्युपनिषत्। यदाहुः,—"स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते। प्रथमाऽऽलीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥" इति। किञ्च शास्त्रकाव्ययोरियान् विशेषः यत्, प्रभुसम्मिततया दुर्ग्रहोऽनुप्रवेशः शास्त्रे, कान्तासम्मिततया तु सुलभोऽनुप्रवेशः काव्ये इति। यदाहुः,—"कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्। आह्लादयत्कान्तवत् काव्यमविवेकगदापहम्॥" इति। साहित्यचूडामणावप्युक्तम्;—"तदिदं प्रभुर्दुःखभक्षणादेतनवित्तलाभः, यत् काव्यश्रवणाद् व्युत्पत्तिसिद्धिः" इति। तस्माद्दृष्टादृष्टानेकोपकारकारितया काव्यमुपादातव्यं, ततश्च सफलोऽयमलङ्कारसूत्रवृत्तिविधानयत्न इति सिद्धम। अथ काव्यशब्दस्यानेकार्थत्वेन विप्रतिपत्तौ स्वसिद्धान्तसिद्धं मुख्यार्थं तावत् प्रख्यापयति, काव्यशब्दोऽयमिति।—लिलक्षयिषितगुणालङ्कारसंस्कृतशब्दार्थयुगलवाची नपुंसकलिङ्गः काव्यशब्द इत्यर्थः। गुणालङ्कारसंस्कृतयोरिति।—गुणैः ओजःप्रमुखैः, अलङ्कारैः यमकोपमादिभिश्च, संस्कृतयोः अलङ्कृतयोरित्यर्थः। अत्र शब्दार्थौ द्वौ सहितावेव काव्यमिति काव्यपदार्थकथनात्, कमनीयताशाली शब्द एव काव्यम्, अथवा अर्थ एवेति पृथक् पक्षद्वयं प्रत्यक्षेपि, यतो द्वयोः समुदायाऽऽह्लादनिबन्धनत्वमिति। तदुक्तं वक्रोक्तिजीविते,—"न शब्दस्य रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं, नाप्यर्थस्य" इति। यद्यपि काव्यपदं गुणालङ्कारसंस्कृतशब्दार्थयुगलं स्वभावत एवाचष्टे, तथाऽप्यस्मिन् सूत्रे मुख्यार्थस्यानुपयोगलक्षणं बाधं पश्यन् शब्दार्थयुगलमात्रे तदुपचर्यते इत्याह, भक्त्येति।—भक्त्या उपचारेण। गुणालङ्कारसंस्कृतत्वस्य पृथक्करणं सावद्योऽर्थः। ननु "मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥" इत्युक्तरीत्या

कोऽसावलङ्कार इत्यत आह ( ग )—

## सौन्दर्यमलङ्कारः ॥ २ ॥

अलङ्कृतिः अलङ्कारः। करणव्युत्पत्त्या पुनः अलङ्कार-शब्दोऽयम् उपमादिषु वर्त्तते। ( घ )

---

मुख्यार्थबाधादौ सत्येवोपचारो वक्तव्यः। तथा च "गुरुरभिवाद्यो गुरुत्वात्" इत्यत्र यथा गुरुशब्दपरिगृहीतस्यैव गुरुत्वस्य तदभिवादनहेतुत्वं दृष्टं, तथैव अत्रापि अलङ्कारस्य काव्यग्रहणहेतुत्वमुपपद्यते इति कथं मुख्यार्थबाधः? चारुताशालि-शब्दार्थयोः, शब्दार्थमात्रस्य च वस्तुत एकत्वात भेदनिबन्धनो दर्घटः सम्बन्धः। "काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्" इति भेदनिर्देशेनैव गुणालङ्कारवैशिष्ट्यं तत व्युत्पत्तिरूपं प्रयोजनञ्च सम्भवतीति कथमुपचारः? अवोच्यते,—यथा "गुरुत्वादभिवाद्यः" इत्युक्ते गम्यते एव गुरुरिति, तथाऽपि गुरुरित्युच्यमानमतिरिच्यते: एवमिहापि "अलङ्कारात् ग्राह्यम" इत्युक्ते काव्यमिति गम्यते एव, तथाऽपि काव्यमित्युच्यमानमतिरिच्यते इति पुनरुक्त-प्रायत्वादनुपयुक्तमिति मुख्यार्थभङ्गः। न च अनुपयुक्तत्वेऽप्यनुपपत्तेरभावात कथं मुख्यार्थ-बाध इति चोदनीयम्: यतो योग्यताविरहवत् आकाङ्क्षाविरहोऽपि मुख्यार्थभङ्ग-हेतुः, अन्वयविघटनाविशेषात। ततश्चानुपयुक्तावाकाङ्क्षावैकल्यम, अनुपपत्तौ तु योग्यतावैकल्यमित्यवगन्तव्यम। चारुताशालिशब्दार्थयोः शब्दार्थमात्रस्य च गुणभेदा-द्भेदे सति साहश्यलक्षणः सम्बन्धः। गुरुपदोपलक्षिते पुंसि हितानुशासनकौशलादि-प्रतिपत्तिवत शब्दार्थयोर्गुणालङ्कारवैशिष्ट्यप्रतिपत्तिः प्रयोजनञ्च सम्भवतीत्युपपन्न एवोप-चार इत्यलमतिविस्तरेण।

( ग ) अलङ्कारशब्दोऽयं किं भावसाधनः, उत करणसाधनः? इति सन्देहात् पृच्छति—कोऽसाविति। तदीत्तरं वक्तुमुत्तरसूत्रमवतारयति, अत आहेति।—वृत्ति-कारदर्शनतः सूत्रकारदर्शनाऽन्वेति कर्त्तृभेदमाश्रित्योक्तम् "आह" इति।

( घ ) अत्र भावव्युत्पत्तेर्विवक्षितत्वादलङ्कारशब्दो भावार्थमाचष्टे इत्याह, अलङ्कृतिरलङ्कार इति।—अलङ्कारशब्दस्य करणव्युत्पत्तिपक्षे तु न गुणानां काव्य-ग्रहणहेतुत्वमिति, "युवतेरिव रूपमङ्ग! काव्यं स्वदते शुद्धगुणम्" ( ३ अधि० १ अ० १ श्लो० ) इत्यादि वक्ष्यमाणं नोपपद्यते इत्यर्थासङ्गतिः, "न क्त-ल्युट-तुमुन्-खलर्थेषु वा सरूपविधिरिष्यते" इति करणे ल्युट एव प्राप्तेः शब्दालङ्कृतिश्चेत्याशयः। ननु अलङ्कारशब्दस्य कटकमुकुटादाविव यज्ञकोपनाऽऽदिष्वविगीतशिष्टप्रयोगदर्शनात्

"अध्यायन्याय" (३।३।१२२ पा०) इत्यादिसूत्रे चकारादनुक्तसमुच्चयार्थाद्वा "कृत्यल्युटो बहुलम्" (३।३।११३ पा०) इति बहुलग्रहणाद्वा करणसाधनोऽप्यलङ्कारशब्दः सङ्गच्छते इति चेन्मतं, तत्तु नानिष्टमित्यभ्युपगम्यानुवदति, करणव्युत्पत्त्या पुनरिति।—कथञ्चित् कल्पितायामपि करणव्युत्पत्तौ न गुणानां काव्यग्रहणहेतुत्वमिति स दोषस्तदवस्थ इत्याशयः। ननु करणसाधनोऽयमलङ्कारशब्दो यमकोपमादिषु वर्त्तमानो गुणानपि गृह्णाति, सौन्दर्य्यहेतुत्वाविशेषादुभयेषामिति, तदेतदविचारितरमणीयम्। न हि व्युत्पत्तिरस्तीति शब्दः सर्व्वत्र प्रयोक्तुं शक्यते, किन्तु शिष्टप्रयोगे दृष्टे व्युत्पत्तिरन्विष्यते, अन्यथा पङ्कजादयः शब्दाः पद्मादिष्विव कुमुदादिषु प्रयुज्येरन्, पङ्कजननाविशेषादिति स्यादतिप्रसङ्गः; तस्मात् पद्मादिषु पङ्कजादिशब्दवत्, अलङ्कारशब्दः कटकमुकुटादिष्विव यमकोपमादिषु योगरूढ इत्यवगन्तव्यम्। एवञ्च सति यमकोपमादेरलङ्कारस्य काव्यग्रहणहेतुत्वाभ्युपगमे, सालङ्कारमेव काव्यं ग्राह्यं, न तु निरलङ्कारमित्यापद्येत। न चैवं वक्तुं युक्तम्, अलङ्कारविरहेऽपि शुद्धगुणमेव काव्यमास्वाद्यमिति वक्ष्यमाणत्वात्। न केवलमियमस्य ग्रन्थकृतः प्रक्रिया, अन्यैरप्यालङ्कारिकैरनलङ्कारस्य शब्दार्थयुगलस्य सगुणस्य काव्यत्वे लक्षणोदाहरणयोर्दर्शितत्वात्। तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे,—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" इति। अत्र व्याचष्ट भट्टगोपालः,—"निर्दोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यमिति घण्टापथः। किन्तु 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति युक्त्या यथा दोषशून्यावेव गुणवन्तावेव शब्दार्थौ काव्यमित्यवधारणं, तथा सालङ्कारावेवेति न पार्य्यते नियन्तुम्। वयं हि काव्यशोभासम्भावनया स्वैरमलङ्कारान् सहामहे, अलङ्कारनैयत्यन्तु न सहामहे। उक्तं हि,—'दोषहानं गुणादानं कर्त्तव्यं नियमात् कृतौ। कामचारः पुनः प्रोक्तोऽलङ्कारेषु मनीषिभिः॥' इति। उदाहरणन्तु—'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपास्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः। सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥' इति। अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः। काश्मकुशावलम्बनादिविशेषोक्तिविभावनयोरन्यतरालङ्कारोद्भावनायामलङ्कारनैयत्यपक्षनिर्वाह इत्यलं दूराभिनिवेशया दुराशया, कविसंरम्भगोचराणामलङ्काराणां न कुत्रचिदपलम्भ इति"। तथापि न काव्यत्वभङ्गः। विशेषोक्तिविभावनयोः स्वस्वविरुद्धार्थमुखेन कथञ्चिदुद्भावनेऽपि न स्फुटत्वं, कण्ठोक्त्या निषिध्ययोः कार्य्यकारणयोर्भावान्तरमुखेणाभावाभिधानात्। अथ साधकबाधकप्रमाणाभावात् द्वयोः सन्देहरूपसङ्कर एवेति, तत्राप्यस्फुटतानुद्भावित्वदुष्परिहरत्वेत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तार्थप्रपञ्चनेन। यद्यपि

**स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् ॥ ३ ॥**

स खलु अलङ्कारो दोषहानात्, गुणालङ्कारादानाच्च सम्पाद्यः कवेः । ( ङ )

**शास्त्रतस्ते ॥ ४ ॥ ( च )**

ते दोषगुणालङ्कारहानादाने शास्त्रादस्मात् । शास्त्रतो हि ज्ञात्वा दोषान् जह्यात्, गुणालङ्कारांश्च आददीत ।

---

"काव्यं ग्राह्यं सौन्दर्य्यात्" "तद्दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्" इति विन्यासान्तरे लाघवं भवति, तथाऽपि योऽयमलङ्कारः काव्यग्रहणहेतुत्वेन उपन्यस्यते, तद्व्युत्पादकत्वाच्छास्त्रमपि अलङ्कारनाम्ना व्यपदिश्यते इति शास्त्रस्य अलङ्कारत्वेन प्रसिद्धिः प्रतिष्ठिता स्यादिति सूचयितुमयं विन्यासः कृतः, "काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्" इति ।

( ङ ) इत्यमलङ्कारपदार्थं समर्थ्य तस्य कारणं वक्तुमुत्तरसूत्रमुपक्षिपति—स दोषेति । प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थानेकार्थत्वात्तच्छब्दोऽत्र प्रक्रान्तार्थपरामर्शीत्याह, स खल्विति ।—गुणाश्चालङ्काराश्च गुणालङ्कारा इति प्रथमं समस्य, पश्चात् दोषाश्च गुणालङ्काराश्चेति द्वन्द्वः कर्त्तव्यः, हानञ्च आदानञ्च हानादाने, दोषगुणालङ्काराणां हानादाने इति विग्रहः ; ततश्च दोषाणां हानं, गुणालङ्काराणामादानमिति यथासंख्यं सम्बन्धः सम्पद्यते । "इष्टानुवर्त्तनात् कुर्य्यात् प्रागनिष्टनिवर्त्तनम् ।" इति नीत्या गुणालङ्कारादानात् पूर्वं दोषहानमेव कविना कर्त्तव्यमिति सूचयितुं दोषहानस्य प्रथमतो निर्द्देशः कृतः । "गुणालङ्कारादानाच्च" इत्यत्रेदमनुसन्धेयम् ;—गुणविवेचनाधिकरणप्रमेयपर्य्यालोचनायां नित्यत्वानित्यत्वभेदेन गुणालङ्कारव्यवस्थामाख्यास्यमानेन ग्रन्थकृता, अत्र सूत्रे दोषहानवत् गुणादानवच्च नालङ्कारादानं नियतम् ; किन्तु गुणकृतशोभातिशयाधायकत्वसम्भावनयैवेति विवक्षितम् इति । एवञ्च सति "सौन्दर्य्यमलङ्कारः" इत्यत्रापि, या गुणैराधीयते शोभा, यस्यालङ्कारैस्तदतिशयः, तदुभयमपि सौन्दर्य्यपर्य्यायेण अलङ्कारपदेन सङ्गृहीतमिति व्याख्येयम् । अतो न पूर्वापरप्रमेयविरोध इति सर्वमनवद्यम् । कवेरिति ।—[ "कृत्यानां कर्त्तरि वा" ( २।३।७१ पा० ) इति षष्ठी ] ।

( च ) ननु दोषहानगुणालङ्कारादाने किंनिबन्धने ? इति जिज्ञासमानं प्रत्याह—शास्त्रत इति ।

किं पुनः फलम् अलङ्कारवता काव्येन, येन एतदर्थोऽयं यत्नः ? इत्याह ( क )—

## काव्यं सत् दृष्टादृष्टार्थं, प्रीतिकीर्त्तिहेतुत्वात् ॥५॥

काव्यं सत् चारु, दृष्टप्रयोजनं प्रीतिहेतुत्वात्, अदृष्ट-प्रयोजनं कीर्त्तिहेतुत्वात्। ( ज ) अत्र श्लोकाः, ( झ )—

"प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्त्तिवर्त्तनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम् ॥ १ ॥
कीर्त्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्त्तिञ्च निरालोकनरकोद्वेगदूतिकाम् ॥ २ ॥

---

( क ) ननु सालङ्कारं काव्यं फलवच्चेत्, अलङ्कारस्य निरूपणाय शास्त्रारम्भ उपपद्यते, अतस्तदुपपत्तये फलं वक्तव्यम्। किं पुनस्तत्फलम् ? इति प्रश्नपूर्व्वक-मुत्तरसूत्रमुपन्यस्यति—किं पुनरिति।

( ज ) सच्छब्दस्य विवक्षितमर्थमाह, चारुरिति।—सालङ्कारतया सुन्दर-मित्यर्थः। दृष्टादृष्टौ ऐहिकामुष्मिकौ अर्थौ यस्येति विग्रहः। अत्र यथासंख्यं सम्बन्धं दर्शयति, दृष्टप्रयोजनमिति।—अत्र प्रीतिशब्देन श्रवणसमनन्तरमेव सहृदय-हृदयेषु जायमाना या रसास्वादलक्षणा, या च पुनरिष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारनिबन्धना, सेयमुभयविधा प्रीतिर्विवक्षिता। तथा च सति, साक्षात्परम्परया चैहिकप्रीतेः साधनत्वात् काव्यं दृष्टार्थमित्यर्थः। ननु कीर्त्तिरपि स्वर्गसाधनतया प्रयोजनमिति वक्तव्यम्; स्वर्गपदार्थोऽपि प्रीतिरेव। तथा च सति, प्रीतिहेतुत्वादित्युक्ते विवक्षितार्थसिद्धेः किं हेत्वन्तरोपादानगौरवेणेति चेत्, सत्यम्; "यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतञ्च सुखं स्वर्गपदास्पदम्॥" इत्युक्त-लक्षणाया दृष्टप्रीतिविलक्षणाया अदृष्टप्रीतेः पृथङ्निरूपणीयत्वात् काव्यस्य तन्मूलतया लोकातिशयवत्त्वं प्रकटितमिति हेत्वन्तरमुपात्तमिति द्रष्टव्यम्।

( झ ) अमुमेवार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यामभियुक्तोक्तिसंवादेन समर्थयते—अत्र श्लोका इति।

प्रतिष्ठा सहृदयहृदयानुरञ्जकतया लोकोत्कर्षेण स्थितिः। सरणिः पद्धतिः। "अकीर्त्तिवर्त्तनीम्" इत्यत्र नञ् तद्विरोधिनमर्थमाचष्टे, यथा अनृताधर्माविद्यादयः ऋतधर्मविद्यादीनां प्रतिपक्षाः, तथा अकीर्त्तिरपि कीर्त्तेर्विरोधिनी, तस्या वर्त्तनी

तस्मात् कीर्त्तिमुपादातुमकीर्त्तिञ्च व्यपोहितुम्।
काव्यालङ्कारशास्त्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः" ॥ ३ ॥

[ इति प्रयोजनस्थापना ]। ( ञ )

इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ शारीरे प्रथमेऽधिकरणे प्रयोजनस्थापना
नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ( ट )

---

एकपदी। ("सरणिः पद्धतिः पद्या वर्त्मन्येकपदीति च।" इत्यमरः)। आसंसारं यावन्न मोक्षः, कीर्त्तेर्यावत प्रसरणं वा। निरालोकः तेजोमात्रशून्यः, तमोमय इति यावत्, नरकः दुर्गतिः, ("स्यान्नारकस्तु नरको निरयो दुर्गतिः स्त्रियाम्।" इत्यमरः) तस्य उद्देशः प्रदेशः, तस्य दूतिका प्रापयित्रीति यावत। प्रसाद्यः विशेषतो विमर्शेन विशदीकर्त्तव्यः। अस्यालङ्कारशास्त्रस्य सौन्दर्य्यापरपर्य्याये अलङ्कारे परमप्रतिपाद्ये साक्षात्प्रतिपाद्यत्वेन दोषगुणालङ्कारा विषयाः, हेयोपादेयतया तद्ज्ञात्पादनं प्रयोजनं, तस्य च प्रयोजनं सत्काव्यकरणं, तस्य च कीर्त्यादयः, तत्र कवीनां प्रीतिः। शास्त्रस्य विषयस्य च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः; काव्यस्य कीर्त्यादेश्च कार्य्यकारणभाव इति प्रथमाध्यायप्रमेयसङ्ग्रहः ॥ १—३ ॥

( ञ ) प्रयोजने काव्यस्य प्रतिष्ठापिते तदर्थितया अधिकारिणी निरूपणीया इत्यध्यायद्वयसङ्गतिमधिगमयति, प्रयोजनेति।—काव्यप्रयोजनस्य स्थापना, कृतेति शेषः। [ तिष्ठतेर्ण्यन्तात् "ख्यासश्रन्थो युच्" ( ३।३।१०७ पा० ) इति युच्प्रत्ययः ]।

( ट ) इति शारीर।—प्रथमं काव्यशरीरं, तदनु दोषाः, ततो गुणाः, तदनन्तरमलङ्काराः, ततः शब्दप्रयोगशैलीति क्रमेण पञ्चाधिकरणानि। तत्र काव्यशरीरमधिकृत्य कृतमिति शारीरमधिकरणम्। अधिक्रियन्तेऽवान्तरप्रमेयरूपाणि प्रकरणान्यस्मिन् महाप्रमेयात्मनीत्यधिकरणं प्रमेयविरतिस्थानम्। अध्यायः अवान्तरप्रमेयविरामस्थानम्। ("प्रमेयविरतिस्थानमध्यायश्च प्रपाठकः।" इति वैजयन्ती)।

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां
काव्यालङ्कारकामधेनौ शारीरे प्रथमेऽधिकरणे
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

# द्वितीयोऽध्यायः ।

अधिकारिनिरूपणार्थमाह ( क )—

**अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः ॥१॥**

इह खलु द्वये कवयः सम्भवन्ति,—अरोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्च इति । अरोचकिसतृणाभ्यवहारिशब्दौ गौणार्थौ । कोऽसौ अर्थः ?—विवेकित्वमविवेकित्वञ्चेति । ( ख )

यदाह ( ग )—

**पूर्वे शिष्याः,—विवेकित्वात् ॥२॥**

पूर्वे खलु अरोचकिनः शिष्याः शासनीयाः, विवेकित्वात् विवेचनशीलत्वात् ।

---

कवीन्द्रकैरवानन्द-सुधास्यन्दपटीयसीम् ।
विभिन्दानां तमःस्पन्दं वन्दे वाङ्मयचन्द्रिकाम् ॥

( क ) अधिकारीति ।—अधिकारः प्रयोजनस्वाम्यं, तद्वान् अधिकारी । तदुक्तं दशरूपके,—"अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।" इति ।

( ख ) अरोचकिन इति ।—क्रष्णसर्पपदन्यायेन अरोचकशब्दस्तत्पुरुषमेवावगमयतीति "क्रष्णसर्पवदरण्यम्" इतिवत् "अरोचकिनः" इति प्रयुक्तं, न त्वरोचका इति । अतः "न कर्म्मधारयान्मत्वर्थीयः" इति निषेधस्यानवकाशः । अरोचको नाम व्याधिविशेषः । यदाह वाग्भटः,—"अरोचको भवेद् दोषैर्जिह्वाहृदयसंश्रितैः ।" इति । सतृणमिति ।—[ "अव्ययं विभक्ति—"(२।१।६ पा०) इत्यादिना साकल्यार्थेऽव्ययीभावः ] । सतृणमभ्यवहरन्तीति सतृणाभ्यवहारिणः । द्वये इति ।—[ "प्रथमचरम" ( १।१।३३ पा० ) इत्यादि सूत्रे तयपः परिगणनात्, "द्विवित्र्यां तयस्यायज्वा" ( ५।२।४३ पा० ) इति तत्स्थानिकायजन्तोऽपि स्थानिवद्भावात् सर्व्वनामसंज्ञां भजते ; अतः प्रथमाबहुवचनान्तं "द्वये" इति रूपम् ] । ननु किमनेन प्रकृतानुपयोगिना अरोचकित्वादिविचारेण ? इति चेत्, अत आह—अरोचकीति । गौणार्थाविति ।—सादृश्यमूलकलक्षणाव्यापारेण लक्षितार्थावित्यर्थः । गौणार्थस्वरूपं जिज्ञासुः पृच्छति—कोऽसाविति । पृष्टमर्थं स्पष्टमाचष्टे—विवेकित्वमिति ।

( ग ) उक्तस्य गौणार्थस्य उपपादकमधिकारिनिश्चायकं सूत्रमवतारयति—यदाहेति ।

## नेतरे,—तद्विपर्य्ययात् ॥३॥

इतरे सत्तणाभ्यवहारिणो न शिष्याः, तद्विपर्य्ययात् अविवेचनशीलत्वात्। न च शीलमपाकर्त्तुं शक्यम्। (घ)

ननु एवं न शास्त्रं सर्वानुग्राहि स्यात्, को वा मन्यते ?* (ङ) तदाह,—

## न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत् ॥४॥

न खलु शास्त्रम् अद्रव्येषु अविवेकिषु अर्थवत्। (च)

---

(घ) अथ "नेतरे" इति सूत्रारम्भः किमर्थः ? विवेकिनः शिष्या इत्युक्ते अविवेकिनः पुनरशिष्या इति गम्यते एव, तथाऽप्यासूत्र्यमाणं पुनरुक्तिं पुष्णाति, "अर्थादापन्नस्य पुनर्व्वचनं पुनरुक्तिः" इति न्यायात्, इति सत्यम् ; यथा "धूमध्वजाभावे धूमाभावः" इति यावद् व्यतिरेको न दर्शितः, तावत् "सति धूमध्वजे धूमः" इति साहचर्य्यमात्रदर्शनान्न कार्य्यकारणाभावनिश्चयः ; तथैवात्रापि व्यतिरेकदर्शनमन्वयदार्ढ्यायेति युज्यते एव सूत्रारम्भः। इष्टिः स्पष्टार्था। ननु शीलितं शास्त्रमविवेकमपाकरोति, तत्त्वविवेकस्य तज्जन्यत्वात् ; अतः कथमविवेकिनो न शिष्या इति शङ्कां शकलयति—न चेति।

(ङ) यद्येवं, विरलः तर्हि विद्ययोपयोग इति शङ्कते—नन्विति। अभ्युपगमेन परिहरति; को वा मन्यते इति।—शास्त्रं सर्वानुग्राहीत्यनुषज्यते। न कश्चिदपि तथा मन्यते इति फलितोऽर्थः।

(च) विधीयमानोऽपि विवेकविधुरेषु विद्योपदेशो विपिनविलापवदफल इत्याह, न शास्त्रमिति।—शास्त्रोपदेशद्वारा यत्र सङ्गिराधीयमाना गुणाः सङ्क्रामन्ति, तद् द्रव्यमिह विवक्षितं, तद्विपरीतानि अद्रव्याणि गुणहीनाः, अविवेकिन इति यावत्। अत्र गाथा,—"अयं भस्मनि होमः स्यादियं दृष्टिर्मरुस्थले। इदमश्रवणे गानं यज्जडे शास्त्रशिक्षणम्॥" इति।

---

* "को वा मन्यते ?" इत्यत्र "कुतस्तदुपादीयते ?" इति पाठान्तरम्।

निदर्शनमाह ( छ )—

**न कतकं पङ्कप्रसादनाय ॥५॥**

न हि कतकं पयस इव पङ्कस्य प्रसादनाय प्रभवति। (ज)

अधिकारिणो निरूप्य रीतिनिश्चयार्थमाह ( झ )—

**रीतिरात्मा काव्यस्य ॥६॥**

रीतिर्नाम इयम् आत्मा काव्यस्य, शरीरस्य इव इति वाक्यशेषः। ( ञ )

का पुनः इयं रीतिः ? इत्याह ( ट )—

**विशिष्टा पदरचना रीतिः ॥७॥**

---

( छ ) प्रतिपादितं प्रमेयं प्रसिद्धदृष्टान्तेन स्पष्टयितुमाह—निदर्शनमिति।

( ज ) कतकम् अम्भःप्रसादनबीजम्। ("कतकं सेदनीयञ्च श्लक्ष्णं वारिप्रसादनम्"। इति वैद्यनिघण्टुः)।

(झ) प्रकरणोचितां सङ्गतिं प्रकटयन्नुत्तरसूत्रमवतारयति, अधिकारिण इति।—कर्तृनिरूपणानन्तरं कर्मनिरूपणमुचितमिति सङ्गतिः।

( ञ ) व्याचष्टे, रीतिर्नामेति।—रियन्ति गच्छन्ति अस्यां गुणा इति, रीयते चरत्यस्यां वाङ्मधुधारेति वा रीतिः। [ अधिकरणार्थे क्तिन्प्रत्ययः ]। करङ्गावकल्पकर्कशतर्कवाक्यवैलक्षण्यप्रकटनप्रगल्भस्फुरत्ताहेतुः कश्चन स्वभावोऽत्रात्मेत्युच्यते। ननु काव्यस्य आत्मेत्येतत् कथमुपपद्यते ? अशरीरभूतस्य आत्मावच्छेदकत्वासम्भवात्, इत्याशङ्क्य, शब्दार्थयुगलं शरीरं, तस्याधिष्ठाता रीतिर्नाम आत्मेत्युपपत्तिमुन्मीलयितुम् आकाङ्क्षितं पदमापूरयति, शरीरस्येवेति वाक्यशेष इति।—अत्र रीतेरात्मत्वमिव, शब्दार्थयुगलस्य शरीरत्वमौपचारिकमिति मन्तव्यम्।

( ट ) रीतेः काव्यशरीरं प्रत्यात्मत्वेनोक्तमुत्कर्षमुपश्रुत्य, कौतुकोत्कलिकाकरम्बितान्तःकरणस्तां प्रतिपित्सुः पृच्छति, किं पुनरिति।—किमित्यव्ययं प्रश्नार्थे। ("किमव्ययञ्च कुत्सायां विकल्पप्रश्नयोरपि।" इति नानार्थरत्नमाला)। इयं रीतिर्नाम किं पुनः ? किंलक्षणेत्यर्थः। प्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयितुमनन्तरसूत्रमवतारयति—आहेति।

विशेषवती पदानां रचना रीतिः। ( ठ )

कोऽसौ विशेषः ? इत्याह ( ड )—

**विशेषो गुणात्मा ॥८॥ ( ढ )**

वक्ष्यमाणगुणरूपो विशेषः।

**सा त्रिधा—वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चाली च ॥९॥**

सा च इयं रीतिस्त्रिधा भिद्यते,—वैदर्भी, गौड़ीया, पाञ्चाली चेति। ( ण )

किं पुनः देशवशाद् द्रव्यवद्गुणोत्पत्तिः काव्यानां, येन अयं देशविशेषव्यपदेशः ? नैवम्। ( त ) यदाह—

**विदर्भादिषु दृष्टत्वात्तत्समाख्या ॥१०॥**

विदर्भगौडपाञ्चालेषु देशेषु तत्रत्यैः कविभिः यथास्वरूपम्

---

( ठ ) "विशिष्टा" इति पदं व्याचष्टे—विशेषवतीति। पदानामिति।—अर्थेष्वौपचारिकी रीतिरङ्गीकर्तव्या ; अन्यथा अर्थानामात्मभूतरीतिवैधुर्ये काव्यशरीरान्तःपाती दुष्करः। यदक्ष्यति,—"तस्यामर्थगुणसम्पदास्रादा" (१ अधि० २ अ० २० सू०) "साऽपि वैदर्भी तात्स्थ्यात्" ( १ अधि० २ अ० २२ सू० ) इति।

( ड ) किमयं वैशेषिकपरिभाषितः पञ्चमः पदार्थो विशेषः, अन्यो वा ? इति सन्दिहानः पृच्छति—कोऽसाविति। विवक्षितं विशेषं विवरीतुमुत्तरसूत्रमवतारयति—आहेति।

( ढ ) गुणात्मा ओजःप्रसादादिगुणस्वभाव इत्यर्थः।

( ण ) रीतिं विवेक्तुमाह, सा त्रिधेति।—सकलगुणसङ्गीचीनत्वेनाभ्यर्हितत्वाद् वैदर्भ्याः प्रथमं निर्देशः। अनन्तरयोरुभयोः लोकगुणत्वेऽपि प्रशस्तगुणसंस्कृतत्वादनन्तरं गौड़ीयायाः, अवशिष्टाया अन्ते निवेशः।

( त ) किं पुनरिति।—यथा लवणादयः पदार्थाः सिन्ध्वादिदेशवशादिशिष्टगुणा भवन्ति, तथा किं देशवशादिशिष्टानि काव्यानीति शङ्कार्थः। समाधत्ते—नैवमिति।

उपलब्धत्वात् तत्समाख्या, न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्। (थ)

तासां गुणभेदात् भेदमाह—

**समग्रगुणोपेता वैदर्भी ॥११॥**

समग्रैः ओजःप्रसादप्रभृतिभिः गुणैः उपेता वैदर्भी नाम रीतिः। अत्र श्लोकः, (द)—

"असृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते" ॥ १ ॥

तामेतामेवं * कवयः स्तुवन्ति (ध)—

---

(थ) विदर्भादिपदैरुपचारादिदर्भादिदेशस्थाः कवयो लक्ष्यन्ते, अन्यथा विदर्भादिपदानां क्षत्रियवृत्तित्वे अर्थासङ्गतिः; जनपदवृत्तित्वे "जनपदतदवध्योश्च" (४।२।१२४ पा०) इति गौड़शब्दात् "अवृद्धादपि बहुवचनविषयात्" (४।२।१२५ पा०) इति विदर्भपञ्चालशब्दाभ्याञ्च वुञ्प्रत्ययप्राप्तौ शब्दासङ्गतिश्चेत्यनुसन्धेयम्। विदर्भपञ्चालशब्दाभ्यां "ऋषिे" (४।२।९२ पा०) इत्यण्प्रत्ययः; गौड़शब्दात् "वृद्धाच्छः" (४।३।११४ पा०) इति छप्रत्ययः। स्पष्टमवशिष्टम्।

(द) प्रतिपादितेऽर्थे प्राचादकपदं प्रमाणयति—अत्र श्लोक इति।

दोषमात्राभिः असाधुत्वादिदोषलेशैरपि, असृष्टा असम्बद्धा, अनुपगतदोषमात्रसम्बन्धेति यावत्। ("मात्रा परिच्छदे वर्णमाने कर्णादिभूषणे। सैवाल्पपरिमाणे च" इति नानार्थरत्नमाला)। समग्रैः अन्यूनैः, गुणैः ओजःप्रसादादिभिः, गुम्फिता सङ्घटिता, विपञ्ची वीणा, ("वीणा तु वल्लकी। विपञ्ची" इत्यमरः") तस्याः स्वराः श्रोतृमनोरञ्जकाः षड्जादयोऽत्र विवक्षिताः, न तु क्षणमात्रम्; तस्य मनोरञ्जकत्वाभावात्। तदुक्तं सङ्गीतरत्नाकरे,—"श्रुत्यनन्तरभावी यः शब्दोऽनुरणनात्मकः। स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते॥" इति। षड्जादिषु रूढ़श्चायम्। तथा चाञ्जनेये,—"स्वरशब्दो मयूरादिसमुत्पन्नेषु सप्तसु। षड्जादिष्वेव रूढ़ोऽयमतो नैवात्र वर्तते॥" इति। तेषां सौभाग्यमिव सौभाग्यं यस्या इति विग्रहः॥ १॥

(ध) किञ्च, अस्याश्च वर्णनीयरसचमत्कारकारितया समग्रसौन्दर्यशालितया च कविकुलीपल्लालनीयतामाकलयति—तामेतामिति।

---

* "अलङ्कारादिसौभाग्यां तामेकामेव" इति पाठान्तरम्।

"सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु" ॥ २ ॥

अत्र उदाहरणम् ( न )—

"गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विस्रब्धं क्रियतां वराहतिर्मुस्ताचतिं पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदञ्च शिथिलज्यावन्धमस्मद्धनुः" ॥ ३ ॥

सतीति।—सच्छब्दोऽत्र साध्वर्थः। ("सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्।" इत्यमरः)। वक्ता कविः। अर्थः अपूर्वतयोल्लिखितः। शब्दानुशासनम् अनुशिष्टः शब्दे आकाङ्क्षायोग्यताऽऽदिविशिष्टस्य। वक्तरि शब्दे च अर्थे च साधौ सत्यपि येन विना वाङ्मधु वाचां मधु, न परिस्रवति न स्यन्दते, तद्वैदर्भीनामकं वस्त्वस्तीति योजना। इह मधुशब्देन मुख्यार्थासम्भवात् सहृदयहृदयैराह्लाद्यः समयसौन्दर्यसमुन्मिषितो रसो लक्ष्यते॥ २ ॥

( न ) उक्तायाः रीतेरुदाहरणमुपदर्शयितुमाह, अत्र उदाहरणमिति।—उच्यते इति शेषः।

"वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासः प्रगल्भते" इति दर्शयितुं तदीयं पद्यमुदाहरति, गाहन्तामिति।—एषा हि शकुन्तलाविलोकनोत्कलिकावशंवदहृदयस्य मृगयाविहारादिरिरंसतो दुष्मन्तस्योक्तिः। महिष्यश्च महिषाश्च महिषाः। [ पुमान् स्त्रिया" ( १।२।६७ पा० ) इत्येकशेषः। एवं मृगकुलमित्यत्रापि एकशेषो वेदितव्यः ]। निपानानि कूपसमीपतः कल्पिता जलाधाराः। ("आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये।" इत्यमरः) तेषु सलिलम्। तदेव विशिनष्टि, शृङ्गैर्मुहुस्ताडितमिति।—महिषा हि जलमवगाह्य दशतः शिरसि दंशानपवारयितुं शृङ्गैर्मुहुस्ताडयन्तीति स्वभावोक्तिः। [ गाहन्तामित्यादिषु सर्वत्र आमन्त्रणे लोट् ]। छायासु अनातपेषु, बद्धानि कदम्बकानि समूहा येनेति विग्रहः। ("निकुरुम्बं कदम्बकम्" इत्यमरः)। कदम्बकानां बहुत्वविवक्षायां मृगकुलस्य अन्यपदार्थत्वमुपपद्यते, अतो न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम्। उद्गीर्णस्य वाऽवगीर्णस्य वा मन्थो रोमन्थः चर्वितचर्वणमित्यर्थः। "विस्रब्धं क्रियतां वराहतिर्मुस्ताचतिं पल्वले" इति प्राचीनः पाठ इति सम्प्रदायविदः। "विस्रब्धैः क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताचतिः पल्वले।" इति पाठान्तरन्तु प्रक्रमभङ्गशङ्काकलङ्कमङ्करयेत्। "अस्मत्" इति पञ्चमीबहुवचनात्तं पृथक्पदम्। विश्रान्तेर्व्यापारविरामार्थत्वात् पञ्चमी, षष्ठीसमासो वा। अत्र श्लोकः-

## ओजःकान्तिमती गौड़ीया ॥१२॥

ओजः कान्तिश्च विद्येते यस्यां सा ओजःकान्तिमती गौडीया नाम रीतिः,—माधुर्य्यसौकुमार्य्ययोः अभावात्, समासबहुला अत्युत्कटपदा च। (प) अत्र श्लोकः,—

"समस्तात्युत्कटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् । *
गौड़ीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविशारदाः" ॥ ४ ॥

उदाहरणम् (फ)—

"दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टङ्कारध्वनिरार्य्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।

---

प्रसादादयो गुणाः परां प्रतिष्ठां लभन्ते। तथा हि,—"क्वायाबद्धकदम्बकम्" "शिथिलज्याबन्धम्" इत्यत्र बन्धस्य गाढ़त्वादोजः। "क्वायाबद्धकदम्बकं मृगकुलम्" इत्यत्र बन्धस्य गाढ़त्वशैथिल्ययोः संसृष्टत्वात् प्रसादः। "महिषा निपानसलिलम्" इत्यत्र मसृणत्वाच्छ्लेषः। "गाहन्ताम्" इत्यारभ्य येनैव मार्गेण उपक्रमः, तेनैव मार्गेण उपसंहार इति मार्गाभेदात् समता। "गाहन्ताम्" इत्यत्र आरोहः, "महिषाः" इत्यत्रावरोहः; एवमन्यत्रापि आरोहावरोहक्रमस्फुरणात् समाधिः। "भृङ्गैर्मुहुस्ताड़ितम्" इति पृथक्पदत्वात् माधुर्य्यम्। "रोमन्थमभ्यस्यतु" इत्यादौ बन्धस्याजरठत्वात् सौकुमार्य्यम्। "शिथिलज्याबन्धसन्धनुः" इत्यत्र बन्धस्य विकटत्वादुदारता। पदानामुज्ज्वलत्वात् कान्तिः। अर्थाभिव्यक्तिहेतुत्वादर्थव्यक्तिरिति दिङ्मात्रप्रदर्शनम्। गुणस्वरूपनिरूपणन्तु गुणविवेचने अधिकरणे करिष्यते ॥ ३ ॥

(प) क्रमप्राप्तां गौड़ीयामाह—ओजःकान्तिमतीति। प्रत्ययार्थं प्रत्याययति—ओजः कान्तिश्च विद्येते इति। अत्र भूमार्थेन मतुपा ओजःकान्त्योः प्राचुर्य्यप्रतिपादनात् अनुकूलालानलुलक्षणानामन्येषां गुणानामनिराकरणं, प्रतिकूलयोस्तु माधुर्य्यसौकुमार्य्ययोरपवारणम्, अत एव दीर्घसमासत्वम्, अत्युत्कटपदत्वञ्च सूचितम्; तदिदमभिसन्धायाह—माधुर्य्यसौकुमार्य्ययोरभावादिति।

प्रतिपादितेऽर्थे प्राचामाभाणकं प्रमाणयति, समस्तेति।—समस्तानि समासवृत्तिमापन्नानि, अत्युत्कटानि पदानि यस्या इति विग्रहः ॥ ४ ॥

(फ) लक्षितायाः रीतेर्लक्ष्यमुपक्षिपति—उदाहरणमिति।

एषा खलु धनुर्धरधुरन्धरेण रघुनन्दनेन गाढ़ाकर्षणात् खण्डिते खण्डपरशोः

---

* "अत्युत्कटपदाम्" इत्यत्र "अत्युद्भटपदाम्" इति पाठान्तरम्।

द्राक् पर्य्यस्तकपालसम्पुटमित * ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो! नाद्यापि विश्राम्यति" ॥ ५ ॥

## माधुर्य्यसौकुमार्य्योपपन्ना पाञ्चाली ॥१३॥

### माधुर्य्येण सौकुमार्य्येण च गुणेन उपपन्ना पाञ्चाली नाम

---

कोदण्डे तद्भङ्गसङ्घटितनिराघाटघीषवर्णनोपोद्घातेन तस्यैव भुजबलभूमानमभिलक्षयती लक्षणस्योक्तिः। दोर्दण्डेन अञ्चितम् आकृष्टम्। [ औचित्यादञ्चतिरत्राऽऽकर्षणे वर्त्तते। ननु यद्याकर्षणमञ्चतेरर्थः, तर्ह्यर्चनार्थस्य तस्य "नाञ्चेः पूजायाम्" ( ६।४।३० पा० ) इति नलोपप्रतिषेधो न सिध्येत्, "अञ्चेः पूजायाम्" ( ७।२।५३ पा० ) इडागमश्च न स्यादिति न चोदनीयम्; अत्र कवेः कार्य्यकारणयोरभेदोपचाराद्दुराधर्षधनुराकर्षणमेव पूजनं विवक्षितमित्यविरोधः ]। आर्य्यः अग्रजः। तदुक्तं भासेन,—"भगवन्तोऽवरैर्वाच्या विद्वद्वेर्षिलिङ्गिनः। विप्रामात्याग्रजास्त्वार्या नटीसूत्रभृतौ मिथः॥" इति। तस्य यत् बालचरितं ताड़कावधादि-धनुर्भङ्गान्तं तदेव प्रस्तावना, तत्र डिण्डिमः। अत्र बालचरितस्य प्रस्तावनात्वरूपणेन रावणवधान्तस्य तस्य कुमारचरितस्यापि नाटकत्वमासूत्र्यते। तथा च कुमारचरितनाटकस्य बालचरितं प्रस्तावना प्राथमिकमङ्गमिति परम्परितरूपकौचित्यमपि परिगृहीतं भवति। प्रस्तावनास्वरूपं दशरूपके प्रदर्शितम्,—"सूत्रधारी नटीं ब्रूते भारिषं वा विदूषकम्। स्वकार्य्यं प्रस्तुताऽऽक्षेपि चित्रोक्त्या यत् तदामुखम्। प्रस्तावना वा तत्र स्यात्—"इति। अन्यच्च—"वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य तौर्यं प्रस्तावनोच्यते।" इति। द्राक्पर्य्यस्ते झटिति चलिते, कपाले शकले, तयोः सम्पुटः समुद्गकः, तेन मितं परिमितं, परिच्छिन्नं, यत् ब्रह्माण्डं तदेव भाण्डं तस्योदरे भ्राम्यन् समन्तात् पर्य्यटन्, पिण्डितः सङ्कोचितः, चण्डिमा यस्येति विग्रहः। तथा च पुराणम्,—"अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु वीर्य्यमपासृजत्। तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्॥ तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्व्वलोकपितामहः। तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरान्॥ स्वयमेवात्मनो ध्यानात् तदण्डमकरोत् द्विधा। ताभ्यां स शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिञ्च निर्म्ममे॥" इति। अद्यापि चिरातीतेऽपि, टङ्कारध्वनिः प्रतिश्रुत्। न विश्राम्यति न विरमति। अत्र बन्धस्य गाढ़त्वौज्ज्वल्यधीरुत्कटत्वादुल्बणावीजःकान्तिगुणौ। समासभूयस्त्वोल्बणपदत्वे चातिस्फुटे ॥ ५ ॥

---

* "सम्पुटमित" इत्यत्र "सम्पुटमिलत्" इति पाठान्तरम्।

रीतिः। ओजःकान्त्यभावात् अनुल्बणपदा विच्छाया च। (ब) तथा च श्लोकः,—

"आश्लिष्टग्रथभावां तां पुराणच्छाययान्विताम्।
मधुरां सुकुमाराच्च पाञ्चालीं कवयो विदुः" ॥ ६ ॥

अत्र उदाहरणम्—

"ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय पान्थ! वसतिर्नैवाधुना दीयते
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतं
येनाद्यापि करङ्कदण्डपतनाशङ्की जनस्तिष्ठति" ॥ ७ ॥

एतासु तिसृषु रीतिषु रेखासु इव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति। (भ)

## तासां पूर्वा ग्राह्या,—गुणसाकल्यात् ॥१४॥

---

(ब) अथ पाञ्चालीं प्रपञ्चयति—माधुर्येति। माधुर्यसौकुमार्यप्रतिपत्तयोरीजःकान्त्योरभावात् बन्धस्य शैथिल्यम्, अनुल्बणपदत्वञ्चेत्याह—ओज इति।

आश्लिष्टेति।—श्लोकः स्पष्टार्थः ॥ ६ ॥

उदाहरति, ग्रामे इति।—इयं हि कस्यचिद्ग्रामीणस्य गृहे निशि निद्रातुं भद्रवैदिग्धमधिश्रित्य पर्जन्यगर्जितैस्तर्जिते निजनिदेशापचारनिष्कृपकुपितकुसुमशरशरव्रातपातक्लिष्टतया निर्विष्टवति कष्टां दशां वैदेशिके तद्दण्डपातभीतिसमाकुलायाः कुलवध्वायाः पुनरन्यमध्वन्यं प्रत्युक्तिः। [अत्र "पथः ष्कन्" (५।१।७५ पा०) "पन्थो ण नित्यम्" (५।१।७६ पा०) इति नित्यं गच्छतः पान्थत्वम्, अन्यस्य च पथिकत्वमिति वृत्तिकारवचनादर्थभेदमाश्रित्य, यदि पथिकाय वसतिर्न दीयेत, तत् पान्थेन किमपराद्धमिति न चोदनीयम्; पान्थपथिकशब्दयोः पर्य्यायतयाऽभिधानदर्शनात् कविभिरविशेषेण प्रयुज्यमानत्वात्। "अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि।" इत्यमरः]। "तत्" इति अमङ्गलतयोच्चारयितुमनुचितत्वान्मरणं तच्छब्देन व्यपदिश्यते। करङ्कः शवः ॥ ७ ॥

(भ) रीतिस्वरूपं निरूप्य तदुपयोगं सदृष्टान्तमाचष्टे—एतास्विति।

तासां तिसृणां रीतीनां पूर्वा वैदर्भी ग्राह्या, गुणानां साकल्यात्। (म)

**न पुनरितरे,—स्तोकगुणत्वात् ॥१५॥**

इतरे गौडीयपाञ्चाल्यौ न ग्राह्ये, स्तोकगुणत्वात्। (य)

**तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके ॥१६॥**

तस्या वैदर्भ्या एव आरोहणार्थमितरयोरपि रीत्योः अभ्यास इत्येके मन्यन्ते। (र)

**तत्तु न,—अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्तेः ॥१७॥**

न हि अतत्त्वं शीलयतः तत्त्वं निष्पद्यते। (ल)

निदर्शनार्थमाह—

**न शणसूत्रवानाभ्यासे ऋसरसूत्रवाने वैचित्र्यलाभः ॥१८॥**

---

(म) नन्वेतासिस्रो वृत्तयः समशीर्षकतया किं कविभिरुपादेयाः? नेत्याह—तासामिति। वृत्तिः स्पष्टार्था।

(य) प्रयोजकत्वाभावादन्ययोर्न ग्राह्यत्वमित्याह—न पुनरिति।

(र) वाहाऽऽरोहाय बालस्य मेषाऽऽरोहानुशीलनवत् वैदर्भीसन्दर्भलाभाय तदितराभ्यास इति केचिदाचक्षते, तत्पक्षं प्रतिक्षेप्तुमुपक्षिपति—तदारोहणार्थमिति।

(ल) तेषां मतं दूषयति, तत्तु नेति।—न ह्यतादृशं कर्म्म परिशीलयतस्तादृशकर्म्मकौशलं सिध्यति। यथा लोके वाजिनमारुरुक्षतो राजपुत्रादेस्तदुपयोगिजान्वष्टभ्नजवगतिमण्डलीक्रियादिसिद्धये मेषारोहाभ्यासो दृश्यते, न तथा कस्यचिदपि कुविन्दस्य सूक्ष्मतन्तुवानकौशलसिद्धौ गोणीवानाभ्यासो दृष्टः, तयोर्वैसादृश्येन उपयोगाभावात्। अतो वैदर्भीसन्दर्भलाभाय गौड़ीयपाञ्चालरीत्योरभ्यास इति मतमनादरणीयम्।

न हि गुणसूत्रवानभ्यस्यन् कुविन्दः त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यं लभते। (व)

## साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी ॥१९॥

साऽपि च वैदर्भी रीतिः शुद्धवैदर्भी भण्यते, यदि समासवत्पदं न भवति। (श)

## तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या ॥२०॥

तस्यां वैदर्भ्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या भवति। (ष)

## तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि ॥२१॥

तदुपधानतः खलु अर्थगुणलेशोऽपि स्वदते। किमङ्ग! पुनः अर्थगुणसम्पत्। तथा चाहुः, (स)—

"किन्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी यस्यां न किञ्चिदपि किञ्चिदिवावभाति।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता चेतः सतामहृतहार्दैरिव प्रविष्टा" ॥ ८ ॥ *

---

(व) गुणसूत्रं गोण्यादुपादानम्। त्रसरतन्तुः शुक्लावस्त्रादुपादानम्। [वानमिति, वयतेर्ल्युट् रूपम्]।

(श) साऽपीति।—सर्वं स्पष्टम्।

(ष) शब्दभागे इव अर्थभागेऽपि गुणसम्पत्तिर्वैदर्भ्युपरागादास्वादनीयेत्याह, तस्यामिति।—वैदर्भीरीत्यवष्टम्भादर्थेऽप्यारोपिता गुणसम्पत्तिरास्वादनीयेत्यर्थः।

(स) असुमेवार्थं कैमुतिकन्यायेन समर्थयते—तदुपेति। तदुपधानत इति।—उपधानम् उपरञ्जनम्, ("अङ्गेत्यामन्त्रणेऽव्ययम्" इत्यमरः)। उक्तार्थेऽभियुक्तोक्तिमभिव्यनक्ति—तथा चाहुरिति।

किन्वस्तीति।—अत्र "जीवन् पदार्थपरिरम्भणमन्तरेण शब्दावधिर्भवति न स्फुरणेन सत्यम्" इति पूर्वार्द्धं पठन्ति। ननु पदपदार्थयोर्गुणचमत्कारो वैदर्भीप्रसाद-

---

* यद्यपि "किन्वस्ति" इत्यादिना पूर्वार्द्धत्वेनास्मिन् पठितः श्लोकः टीकाकृता उत्तरार्द्धतया निर्दिश्य "जीवन्" इत्यादिना पूर्वार्द्धः पठितः, "आनन्दयति" इत्यादिकमुत्तरार्द्धञ्च नाङ्गीकृतं, तथाऽपि पाठान्तरस्य सत्ताप्रदर्शनार्थं श्लोकार्द्धोऽयम् अस्माभिरिह सन्निवेशितः इति ज्ञेयम्।

वचसि यमधिगम्य * स्यन्दते वाचकश्रीर्वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः"॥९॥

## साऽपि वैदर्भी,—तात्स्थ्यात् ॥२२॥

साऽपि इयमर्थगुणसम्पद्वैदर्भीत्युक्ता। तात्स्थ्यात् इति उपचारतो व्यवहारं दर्शयति। (ह)

इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ शारीरे प्रथमेऽधिकरणे अधिकारचिन्ता
रीतिनिश्चयश्च नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

---

लभ्य इति यदुक्तं, तदयुक्तम्; पदार्थपरिस्पन्दमात्रेण वैदर्भीस्फुरणमात्रेण जीवन्त्या वाक्यविश्रान्तेरसम्भवादिति शङ्कामनुभाषते, जीवन्निति।—जीवन् तर्कवाक्यवैलक्षण्येन सहृदयहृदयाह्लादकारीत्यर्थः। शब्दार्थौ वाक्यविश्रान्तिः। यदुक्तं शङ्कावादिना, तत् सत्यम् अस्त्येव, किन्तु पदार्थव्यतिरिक्ता तत्र उत्कृष्टा पदसङ्घटनापरिपाटी काचिदस्ति, सा च पदपदार्थयोः सजीवत्वायावश्यमङ्गीकरणीयेत्याह, किन्त्विति।—यस्यां पदानुपूर्व्यां, न किञ्चिदपि असदपि वस्तु, किञ्चिदिव सदिव, अवभाति प्रतिभाति, प्रबन्धप्रौढिप्रकटितपदघटनापरिपाटिवशात् कल्प्यं वस्तु प्रत्यक्षायमाणं प्रतिभासते इत्यर्थः। यदाहुः,—"अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः। यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥" इति॥ ८॥

वचसीति।—काव्यात्मके वाक्ये इत्यर्थः। वाचकश्रीः शब्दसम्पत्। यं वैदर्भीपाकम्, अधिगम्य अधिश्रित्येत्यर्थः। स्यन्दते रसवर्षिणी भवति। यत्र यस्मिन् वैदर्भीपाके, वितथं नीरसं वस्तु, अवितथत्वं सरसत्वं, प्रयाति। तदुक्तं लोचने,—"जगद्भावप्रख्यं निजरसभरात् पूरयति च" इति। अन्यच्च,—"भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्। व्यवहारयति यथेच्छं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥" इति। स्पष्टम् अवशिष्टम्॥ ९॥

(ह) वैदर्भीनिष्ठत्वादर्थगुणसम्पदि वैदर्भीति व्यवहारोऽप्युपचर्यते इत्याह, साऽपीति।—तस्मिन् तिष्ठतीति तत्स्थः, तस्य भावः तात्स्थ्यं तस्मादिति, उपचारे सम्बन्ध उक्तः।

इति श्रीगोपेन्द्रविपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां
काव्यालङ्कारकामधेनौ शारीरे प्रथमेऽधिकरणे
द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

---

* "अधिगम्य" इत्यत्र "अधिश्रित्य" इति पाठान्तरम्।

# तृतीयोऽध्यायः ।

अधिकारचिन्तां रीतितत्त्वञ्च निरूप्य काव्याङ्गानि उपदर्शयितुमाह ( क )—

**लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि ॥१॥ (ख)**

उद्देशक्रमेण एतद् व्याचष्टे ( ग )—

**लोकवृत्तं लोकः ॥२॥**

लोकः स्थावरजङ्गमात्मा, तस्य वर्त्तनं वृत्तमिति । ( घ )

**शब्दस्मृत्यभिधानकोषच्छन्दोविचितिकला-कामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्या ॥३॥**

---

वरिवस्यामि मनसा वचसामधिदेवताम् ।
लोलालास्यगृहा यस्याश्चतुर्मुखचतुर्मुखी ॥ १ ॥

( क ) अध्यायान्तरमारभमाणः प्रागध्यायप्रपञ्चितमर्थं सङ्क्षिप्य दर्शयन्नध्यायद्वय-मेवीमासूत्रयति, अधिकारिचिन्तामिति ।—अङ्गिनि निरूपितेऽङ्गानां निरूपण-मुचितमिति सङ्गतिः ।

( ख ) अङ्गान्युद्दिशति—लोक इति ।

( ग ) वर्णनीयमन्तरेण किं वर्ण्यते इति लोकः प्रथममुद्दिष्टः, ततश्च संस्कृताः शब्दाः, तदनु तदर्थाः, अथ वृत्तम्, अनन्तरमितिवृत्तवैचित्र्यहेतुः शृङ्गाराङ्गं कलाकौशलं, ततो रसोपयोगी कामव्यवहारः ; ततश्चार्थानर्थविवेक-हेतुर्दण्डनीतिः, पश्चात् लक्ष्यज्ञत्वादय इत्युद्देशक्रमः । अत—"नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतञ्च बहु निर्मलम् । अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥" इति ; "शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् । काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदु-द्भवे ॥" इति चोक्तरीत्या कविबीजं प्रथमं परिगणनीयम् ; यत्तु पश्चात् परि-गणितमिति, तच्चिन्त्यम् ।

शब्दस्मृत्यादीनां तत्पूर्वकत्वं पूर्वं काव्यबन्धेषु अपेक्षणीयत्वात्। (ङ)

तासां काव्याङ्गत्वं योजयितुमाह—

## शब्दस्मृतेः शब्दशुद्धिः ॥ ४ ॥

शब्दस्मृतेर्व्याकरणाच्छब्दानां शुद्धिः साधुत्वनिश्चयः कर्त्तव्यः। शुद्धानि हि पदानि निःशङ्कैः * कविभिः प्रयुज्यन्ते। (च)

## अभिधानकोषतः पदार्थनिश्चयः ॥ ५ ॥

पदं हि रचनाप्रवेशयोग्यं भावयन् सन्दिग्धार्थत्वेन न

---

(घ) लोकशब्दोऽयमुपचाराल्लोकवर्त्तने वर्त्तते इत्याह—लोकवृत्तमिति।

(ङ) अथ विद्या उद्दिशति, शब्दस्मृतीति।—"शास्त्रतस्ते" (१अधि० १अ० ४सू०) इत्यत्र सूत्रे अलङ्कारविद्योपयोगस्य प्रागेवोपदर्शितत्वान्नात्र विद्यान्तरे परिगणनमित्यवगन्तव्यम्। शास्त्रशब्दः कलाकालशब्दाभ्यामभिसम्बन्धनीयः, तत्सम्बन्धं विनाऽपि अन्यत्र शास्त्रत्वप्रतिपत्तेः। "पूर्वाः" इत्यनेन गणितविद्यादिपरिग्रहः। 'प्रधानस्योपकारकमङ्गम्" इति न्यायेन क्रमादङ्गानामङ्गित्वोपयोगं दर्शयिष्यन्ननन्तरसूत्रावताराय पीठिकां प्रतिष्ठापयति—शब्दस्मृत्यादीनामिति।

(च) व्याकरणं हि मूलं सर्व्वविद्यानामिति युक्त्या प्रथमोद्दिष्टायाः शब्दविद्यायाः उपयोगं दर्शयति—शब्दस्मृतेरिति। व्याचष्टे, शब्दस्मृतेर्व्याकरणादिति।—साधुत्वनिश्चयः अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः साधुरिति निश्चयः। निःशङ्कैः निर्भयैरित्यर्थः। अपशब्दप्रयोगे तु कविकाव्ययोरनादरणीयत्वप्रसङ्ग इति द्रष्टव्यम्। तदुक्तम्,—"यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले। सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥" इति। दण्डिनाऽप्युक्तम्,—"गौर्गौः कामदुघा सम्यक्प्रयुक्ता स्मर्य्यते बुधैः। दुष्प्रयुक्ता पुनर्गौत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥" इति; "तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन। स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥" इति च।

---

* "निष्कम्पैः" इति क्वचित् पाठः।

गच्छीयात् न वा जह्यादिति काव्यबन्धविघ्नः। तस्मात् अभिधानकोषतः पदार्थनिश्चयः कर्त्तव्य इति। अपूर्वाभिधानलाभार्थत्वन्तु अयुक्तम् अभिधानकोषस्य अप्रयुक्तस्य अप्रयोज्यत्वात्। यदि प्रयुक्तं प्रयुज्यते, तर्हि किमिति सन्दिग्धार्थत्वम् आशङ्कितं पदस्य? तत्र,—तत्र सामान्येन अर्थावगतिः सम्भवति। यथा नीवीशब्देन जघनवस्त्रग्रन्थिः उच्यत इति कस्यचित् निश्चयः। स्त्रिया वा पुरुषस्य वेति संशयः "नीवी सङ्ग्रथनं नार्य्या जघनस्थस्य वाससः" इति नाममालाप्रतीकम् अपश्यतः इति। (छ) अथ कथम् (ज)—

(छ) पदं हीति।—अयमर्थः,—"आधानोद्धरणे तावद् यावद् दीलायते मनः" (१ अधि० ३ अ० २ श्लो०) इत्युक्तनीत्या किमपि पदं काव्यबन्धे प्रयोगयोग्यं पुनःपुनश्चेतसि विनिवेशयन् कविरभिधानकोषपरिशीलनमन्तरेण सन्दिग्धार्थतया प्रयोक्तुं परित्यक्तुं वा नोत्सहते; अतो बन्धविघ्नो जायेत। तस्मादभिधानकोषतः पदस्यार्थं निश्चित्य निर्विचिकित्सं प्रयुञ्जीत इति। ननु अभिधानकोषस्येदमेव प्रयोजनमिति कोऽयं नियमः, अपूर्वपदप्रयोगलाभोऽपि किं न स्यात्? इति चोद्यमनूद्यावद्यति—अपूर्वेति। तत्र हेतुमाह, अप्रयुक्तस्येति।—कविभिरिति शेषः। "यदप्रयुक्तं कविभिरप्रयुक्तं तदुच्यते" इत्यप्रयुक्तत्वदोषस्य पददोषेषु लक्षितत्वात्। अप्रयोज्यत्वञ्चार्थाभिव्यक्तेरविलम्बेन समर्पकत्वाभावादिति द्रष्टव्यम्। ननु यदि प्रयुक्तमेव पदं कविना प्रयुज्येत, तर्हि कुतः सन्देहः स्यात्? इति शङ्कते—यदीति। समाधत्ते, सामान्येनेति।—"एषा हि मे रणगतस्य दृढा प्रतिज्ञा दृश्यन्ति यन्न रिपवो जघनं हयानाम्" इति प्रयोगदर्शनात् जघनशब्दः पृष्ठवंशाधरविकसावयवमभिधत्ते इत्यभिमन्यमानस्य कस्यचिन्नीवीशब्दो जघनवस्त्रग्रन्थिमेवाभिधत्ते इति प्रतिपत्तिर्जायते; तत्र स्त्रिया वा पुरुषस्य वेति संशय उपपद्यते इत्यर्थः। नाममाला अभिधानकोषः, तस्याः प्रतीकम् अवयवम्। ("अङ्गं प्रतीकोऽवयवः" इत्यमरः)। अपश्यतः अपरिशीलयत इति यावत्।

(ज) यद्येवं, तर्हि प्रयोगविरोधः किं न स्यात्? इति शङ्कते, अथ कथमिति।—विचित्रभोजनाभोगेत्यस्मिन् पद्ये पुंसि विषये नीवीशब्दप्रयोगः कथमिति शङ्कितुरभिप्रायः।

"विचित्रभोजनाभोगवर्द्धमानोदरास्थिना। *
केनचित् पूर्वमुक्तोऽपि नीवीबन्धः श्लथीकृतः" ॥ १ ॥

इति प्रयोगः ? भ्रान्तेरुपचाराद्वा। ( झ )

## छन्दोविचितेर्वृत्तसंशयच्छेदः ॥ ६ ॥

काव्याभ्यासात् वृत्तसङ्गान्तिर्भवति एव; किन्तु मात्रावृत्ताऽऽदिषु क्वचित् संशयः स्यात्। अतो वृत्तसंशयच्छेदश्छन्दोविचितेः † विधेयः इति। ( ञ )

## कलाशास्त्रेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् ॥ ७ ॥

कला गीतनृत्यचित्राऽऽदिकास्तासाम् अभिधायकानि शास्त्राणि विशाखिलादिप्रणीतानि कलाशास्त्राणि, तेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् संवेदनम्। न हि कलातत्त्वानुपलब्धौ कलावस्तु सम्यङ्निबन्धुं शक्यमिति। ( ट )

---

( झ ) परिहरति, भ्रान्तेरिति।—भ्रान्तिप्रयुक्तोऽयं प्रयोगः, अथवा नीवीशब्दः पुरुषविषये लक्षणया प्रयुक्तः; पौरुषराहित्यप्रतिपत्तिः प्रयोजनमिति भावः।

( ञ ) वृत्तविद्यायाः प्रयोजनं प्रस्तौति—छन्दोविचितेरिति। काव्येति।—नानावृत्तात्मकत्वात् काव्यस्य तत्परिशीलनाद् वृत्तस्वरूपप्रतिफलनमस्त्येव; तथाऽपि मात्रावृत्ताऽऽदिषु साचाकल्येषु वैतालीयाऽऽदिषु छन्दःशास्त्रं विना निर्णयो दुष्कर इत्यर्थः। वैतालीयलक्षणन्तु वृत्तरत्नाकरे,—"षड् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नौ निरन्तराः। न समाऽत्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः" ॥ इति।

( ट ) कला इति।—दिक्षात्रन्तु लोकतो विज्ञायते। तत्त्वज्ञानन्तु तच्छास्त्रत एव सम्पद्यते इत्यर्थः। कला नृत्यगीतादयश्चतुःषष्टिः। उपकलाश्चतुःशतम्। कलानामुद्देशः कृतो भामहेन,—"नृत्यं गीतं तथा वाद्यमालेख्यं मणिभूमिकाः। दशनाङ्गरागश्च माल्यगुम्फविचित्रता ॥ वेणुवीणाऽऽदिकाऽऽलापपाटवं शेखरक्रिया। नेपथ्यं

---

* "वर्द्धमानोदरास्थिना" इत्यत्र "वर्द्धमानोदरास्थिभिः" इति पाठान्तरम्।

† "छन्दोविचितेः" इत्यत्र "छन्दःशास्त्रतः" इति क्वाचित्कः पाठः।

## कामशास्त्रतः कामोपचारस्य ॥ ८ ॥

संविदत्यनुवर्त्तते। कामोपचारस्य संवित् कामशास्त्रत इति। कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्य इति। ( ठ )

## दण्डनीतेर्नयापनययोः ॥ ९ ॥

दण्डनीतेः अर्थशास्त्रान्नयस्य अपनयस्य च संविदिति। तत्र षाड्गुण्यस्य यथावत्प्रयोगो नयः। तद्विपरीतोऽपनयः। न हि तावविज्ञाय नायकप्रतिनायकयोर्वृत्तं शक्यं काव्ये निबन्धुमिति। ( ड )

---

गन्धयुक्तिश्च कर्णपत्रक्रियाऽभिधा ॥ विशेषश्चेद्यल्लृप्तिश्च नानाभूषणयोजनम्। इन्द्रजालं कौचिमारं सामुद्रं हस्तलाघवम् ॥ सूचीवानक्रिया सूत्रक्रिया सलिलवाद्यकम्। सूद-शास्त्रपरिज्ञानं शारिकाशुकवादनम् ॥ रसवादो वास्तुविद्या तक्षणं मेचिकोल्करः। सजीवनिर्जीवद्यूतशास्त्रसम्पाद्यपाटवम् ॥ धोरणा मातृकाद्यत्वं मातृकाकाव्यलक्षणम्। आकर्षक्रीडितञ्च निमित्तागमवेदनम् ॥ अग्न्यस्त्रसेनादिलक्ष्मो विषप्रतिविषागमः। पाञ्चालीनृत्यकरणं तण्डुलादिबलिक्रिया ॥ प्रहेलिकादुर्व्वचकप्रतिमायाऽऽदियोजनम्। मन्त्रवादपरिज्ञानं विशेषोच्चारमुष्टिका ॥ सर्वाभिधानकोषोक्तिः परकायप्रवेशनम्। लघ्व्यायामचिवाप्तिः पत्रिकाचित्रकर्त्तनम् ॥ रत्नोत्पत्तिस्थानशास्त्रं दर्पणादि-लिपिक्रिया। तिरस्करिण्याद्यावाप्तिः पुष्पशाटकिकागमः ॥ हस्त्यश्वलक्षणज्ञानं तिर्य्यग्हृदयवेदनम्। परेङ्गितपरिज्ञानं जलयानागमज्ञता ॥ परचेतःप्रवेशश्च चतुः-षष्टिरिमाः कलाः। अन्या उपकलाः प्रोक्तास्तासां सङ्ख्या चतुःशतम् ॥ आभिरेव प्रपञ्चोऽयं वर्त्तते विजयी स्फुटम्" ॥ इति। अत्र ग्रन्थविस्तरभयादुपकलानामुद्देशो न कृतः। कलातत्त्वसंवित्तिरूपयोगं दर्शयति—न हीति।

( ठ ) कामोपचारबहुलमिति।—वस्तु काव्यप्रतिपाद्यमितिवृत्तम्। काव्यस्य रसवत्त्वावश्यम्भावाद् रसस्य च शृङ्गारप्रमुखत्वात् तस्य च कामोपचारप्रचुरत्वात्, काव्यवस्त्वपि कामोपचारबहुलमिति भावः।

( ड ) दण्डनीतेरुपयोगं दर्शयति—दण्डनीतेरिति। षाड्गुण्यस्येति।—सन्धि-विग्रहयानाऽऽसनद्वैधीभावसमाश्रयाः षड् गुणाः, षड् गुणा एव षाड्गुण्यम्। [ स्वार्थिकः ष्यञ् ]।

इतिवृत्तकुटिलत्वञ्च ततः ॥ १० ॥

इतिहासादिरितिवृत्तं काव्यशरीरं, तस्य कुटिलत्वं, ततो दण्डनीतेः, आबलीयसादि*प्रयोगव्युत्पत्तिमूलत्वात् तस्याः। एवमन्यासामपि विद्यानां यथास्वमुपयोगो वर्णनीय इति। (ढ)

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् ॥ ११ ॥ (ण)

तज्ज्ञ काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम् ॥ १२ ॥

अन्येषां काव्येषु परिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्। ततो हि काव्यबन्धस्य व्युत्पत्तिर्भवति। (त)

काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः ॥ १३ ॥

बन्धनं बन्धः। काव्यस्य बन्धः रचना काव्यबन्धः, तत्रोद्यमोऽभियोगः। स हि कवित्वप्रकर्षमादधाति। (थ)

---

(ढ) कुटिलत्वमिति।—यथा तापसवत्सराजाऽऽदौ। आबलीयसेति।—अबलीयांसमधिकृत्य कृतमधिकरणमाबलीयसं, तत्प्रभृतौ प्रयोगाः मित्रभेदसुहृल्लाभाऽऽदयः, तेषां व्युत्पत्तौ सा दण्डनीतिर्मूलमिति भावः। एवमन्यासामिति।—गणितादिविद्यानामित्यर्थः। एवमष्टादशभेदभिन्नानामशेषाणामपि विद्यानां काव्याङ्गत्वमुक्तं भवति। तासामुपयोगश्च यथास्वं लक्ष्यवर्णैर्द्रष्टव्यः। यदाहुः,—"न स शब्दो न तद्वाच्यं न सा विद्या न सा कला। जायते यन्न काव्याङ्गमहो! भारी गुरुः कवेः॥" इति।

(ण) प्रकीर्णं वर्णयति—लक्ष्यज्ञत्वमिति।

(त) अन्येषामिति।—कवीनामिति शेषः।

(थ) बन्धशब्दो भावसाधन इत्याह, बन्धनं बन्ध इति।—पूर्वं कथापरीक्षा, तत्राधिकाबाबापीहापौ, फलपर्य्यन्ततानयनं, रसं प्रति जागरूकता, रसोचित-

---

* "आबलीयसादि" इत्यत्र "बलीयस्त्वाबलीयस्त्वादि" इति, "आबलीयसप्रभृतिप्रयोगव्युत्पत्तौ" इति च पाठान्तरद्वयम्।

**काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा ॥ १४ ॥**

काव्योपदेशे गुरव उपदेष्टारः, तेषां शुश्रूषणं वृद्धसेवा। ततः काव्यविद्यायाः सङ्क्रान्तिर्भवति। (द)

**पदाऽऽधानोद्धरणमवेक्षणम् ॥ १५ ॥**

पदस्य आधानं न्यासः, उद्धरणमपसारणं, तयोः खलु अवेक्षणम्। (ध) अत्र श्लोकौ,—

"आधानोद्धरणे तावदयावद्दीलायते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥ २ ॥
यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥" ३ ॥

**कवित्वबीजं प्रतिभानम् ॥ १६ ॥**

कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजं जन्मान्तराऽऽगतसंस्कारविशेषः कश्चित्; यस्मात् विना * काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वाऽवहास्यायतनं स्यात्। (न)

---

विभावादिवर्णनायामलङ्कारौचित्यमित्याद्युल्लेखपूर्वकं गुम्फनं काव्यबन्धः, तदौचितम् अभियोगः।

(द) काव्योपदेश इति।—यद्यपि श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा इति शब्दव्युत्पत्तिः, तथाऽपि ("वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याऽप्युपासनम्") इति निरूढत्वेनाभिधानात् सामानाधिकरण्यं घटते।

(ध) अवेक्षणमाह—पदाधानेति।

अत्र भामहेन भणितं प्रमाणयति, आधानोद्धरणे इति।—श्लोकद्वयेन क्रमादन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदानां स्थैर्ये सम्पादनीयमित्युक्तम्। इत्यमर्थपाकोऽपि समर्थनीयः ॥ २।३ ॥

(न) कवित्वस्येति।—बीजमभिनवपदार्थस्फुरणहेतुः। संस्कारो वासनात्मा। यदाह भट्टगोपालः,—"कवित्वस्य लोकोत्तरवर्णनानैपुणलक्षणस्य, बीजमुपादान-

---

* "यस्मात् विना" इत्यत्र "यस्मात् बीजं विना" इति पाठान्तरम्।

**चित्तैकाग्र्यमवधानम् ॥ १७ ॥**

चित्तस्य ऐकाग्र्यं वाह्यार्थनिवृत्तिः, तदवधानम्। अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यति। (प)

**तद्देशकालाभ्याम् ॥ १८ ॥**

तदवधानं देशात् कालाच्च समुत्पद्यते। (फ)

कौ पुनर्देशकालौ ? इत्याह—

**विविक्तो देशः ॥ १९ ॥**

विविक्तो निर्जनः। (ब)

**रात्रियामस्तुरीयः कालः ॥ २० ॥**

रात्रेर्यामो रात्रियामः प्रहरः, तुरीयश्चतुर्थः काल इति। तद्देशादिविषयोपरतं चित्तं प्रसन्नमवधत्ते। (भ)

---

स्थानीयः, संस्कारविशेषः कार्यकल्पनीया काचिदासना शक्तिः" इति। काव्यादर्शेऽपि —"न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।" इति। यस्माद् विनेति।—["पृथग्विना—" (२।३।३२ पा०) इत्यादिसूत्रे विकल्पेन तृतीयाविधानात् पक्षे पञ्चमी]। हास्याऽऽयतनं परिहासाऽऽस्पदम्। तादृशं हि काव्यमनर्थाय भवति कवेः। तदुक्तम्,—"नाकवित्वमधर्माय नृपतेर्दण्डनाय वा। कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥" इति।

(प) चित्तस्येति।—बहिरिन्द्रियव्यापारविरामान्मनसो वाह्यार्थानुपरक्तिरवधानम्। अवधानस्य प्रयोजनमभिधत्ते, अवहितमिति।—अर्थान् पश्यति अभिनवपदार्थानप्रतिबन्धमुल्लिखतीत्यर्थः।

(फ) तद्देशकालाभ्यामिति।—अर्थादिशिष्टाभ्यां समुचिताभ्यामित्यवगन्तव्यम्।

(ब) विविक्तो निर्जनप्रदेशः। ("विविक्तौ पूतविजनौ" इत्यमरः)।

(भ) तुरीय इति।—प्रथमादिषु त्रिषु प्रहरेष्वाहारविहारनिद्रासु सामुख्यं मनसः, पश्चिमे तु प्रहरे प्रसादः सम्भवतीति तुरीय इत्युक्तम्। यद्वा,—यद्यपि प्रथमादीनामपि चतुःसङ्ख्यापूरकत्वं, तथाऽप्युपादानसामर्थ्यादिह पश्चिमो यामस्तुरीय इति गम्यते। तथा च कालिदासः,—"पश्चिमाद्द यामिनीयामात् प्रसादमिव

एवं काव्याङ्गानि उपदर्श्य काव्यविशेषकथनार्थमाह(म)—

**काव्यं गद्यं पद्यञ्च ॥ २१ ॥**

गद्यस्य पूर्वं निर्देशो दुर्लक्ष्यविशेषत्वेन * दुर्बन्धत्वात्। (य) तथाऽऽहुः, ( र )—

"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।" इति ॥ ४ ॥

तच्च त्रिधा भिन्नमिति दर्शयितुमाह ( ल )—

**गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायञ्च ॥२२॥ (व)**

---

चेतना।" इति। साधोऽपि,—"गहननपरावप्राप्तबुद्धिप्रसादाः कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम्।" इति।

( म ) वृत्तवर्त्तिष्यमाणयोः सङ्गतिमुल्लिङ्घयन्, काव्यभेदान् कथयितुमाह—एवमिति।

( य ) गद्यमिति।—["गद व्यक्तायां वाचि" इति धातोः "गदमदचरयमश्चानुपसर्गे" ( ३।१।१०० पा० ) इति कर्म्मणि यत्प्रत्यये सति गद्यमिति रूपम्। यद्वा—"स्तनगदौ देवशब्दे" इति चौरादिकणिजन्तात् "अचो यत्" ( ३।१।९७ पा० ) इति यत्प्रत्यये सति गद्यमिति रूपम्]। देवैः शब्दनीयं गद्यमिति। पादेषु भवं पद्यम्। [शरीरमिति विवक्षायां "शरीरावयवाच्च" ( ४।३।५५ पा० ) इति भवार्थे यत्प्रत्यये असंज्ञायां पदादेशे च सति पद्यमिति रूपम्]। अनेन पद्यसामान्यलक्षणं सूचितं भवति। तदुक्तं काव्यादर्शे—"पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।" इति। गद्यस्य पूर्व्वनिर्देशे हेतुमाह, गद्यस्येति।—दुर्लक्ष्याः क्लेशेन लक्ष्याः, विशेषाः गुरुलघुनियमादयो यस्य तस्य भावः तेन हेतुना, दुर्बन्धं क्लेशेन बन्धुं शक्यं तस्य भावस्तस्मात् पूर्व्वनिर्देशः, कृत इति शेषः।

( र ) अनाभाणकमपि दर्शयति—तथाऽऽहुरिति।

निकषो हेमादिकषणीपलः। ("निकषस्तु घृषिर्घृष्यो हेमादिनिकषोपलः।" इति वैजयन्ती)। कनकानामिव कवीनां प्रकर्षापकर्षपरीक्षास्थानमिति यावत् ॥ ४ ॥

( ल ) गद्यभेदान् गणयितुमाह—तच्चेति।

( व ) वृत्तगन्धि क्वचिद्भागे वृत्तच्छायाऽनुकारि। चूर्णपदेनोपचारात् व्यस्तपद-

---

* "दुर्लक्ष्यविशेषत्वेन" इत्यत्र "दुर्लक्ष्यविषयत्वेन" इति पाठान्तरम्।

तल्लक्षणानि आह ( श )—

## पद्यभागवद् वृत्तगन्धि ॥ २३ ॥

पद्यस्य भागाः पद्यभागास्तद्वद्वृत्तगन्धि । यथा—

"पातालतालतलवासिषु दानवेषु" इति ॥ ५ ॥

अत्र हि वसन्ततिलकाऽऽख्यस्य वृत्तस्य भागः प्रत्यभिज्ञायते । ( ष )

## अनाविद्धललितपदं चूर्णम् ॥ २४ ॥

अनाविद्धानि अदीर्घसमासानि ललितानि अनुद्धतानि पदानि यस्मिन् तदनाविद्धललितपदं चूर्णमिति । (स) यथा—

"अभ्यासो हि कर्म्मणां कौशलमावहति । नहि सकृन्निपातमात्रेण उदबिन्दुरपि यावणि निम्नतामादधाति" इति । ( ह )

## विपरीतमुत्कलिकाप्रायम् ॥ २५ ॥

---

समाहारो लक्ष्यते ; तेन व्यस्तपदबहुलं चूर्णम् । उत्कलिकाप्रायमिति ।—उत्कलिका उत्कण्ठा । ( "उत्कण्ठोत्कलिके समे" इत्यमरः ) । उत्कलिकायाः प्रायः प्रयोगबाहुल्यं यस्मिंस्तत् उत्कलिकाप्रायं गद्यम् । यस्मिन् श्रूयमाणे श्रोतृणामुत्कण्ठा बहुला भवतीत्यर्थः । यद्वा—कलिकाशब्दोऽत्र लक्षणया रूढरूढिकायां वर्त्तते । उल्लसन्तीं कलिकां रूढरूढिकां, प्रेति प्राप्नोतीत्युत्कलिकाप्रायं, यत्र पदसन्दर्भपरिपाटी काण्डोपकाण्डसंरोहशालिनी कलिकेवोल्लसति, तदुत्कलिकाप्रायमित्यर्थः ।

( श ) विशेषलक्षणानि विवरीतुमाह—तल्लक्षणानीति ।

( ष ) वसन्ततिलकेति ।—"उक्तं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः" इति तल्लक्षणम् ।

( स ) अनाविद्धेति ।—वृत्तिः स्पष्टार्था ।

( ह ) उदाहरति—अभ्यास इति । नहि सकृदिति ।—नहीति निपातसमुदायः प्रतिषेधवाचकः सकृदित्यनेन सम्बध्यते, तथा चासकृदित्यर्थः सम्पद्यते । मात्रशब्देन सहकारिमात्रादित्यांवर्त्यते ; तेनोदबिन्दुरप्यसकृन्निपातमात्रेण यावणि पाषाणे निम्नतामादधातीत्यन्वयमुखेन पूर्ववाक्यार्थः समर्थितो भवति ।

विपरीतमाविद्धोद्धतपदमुत्कलिकाप्रायम्। (क) यथा—

"कुलिशशिखरखरनखरप्रचयप्रचण्डचपेटापाटितमत्तमातङ्गकुम्भस्थलगलन्मद-च्छटाच्छुरितचारुकेशरभारभासुरमुखे केसरिणि" इति। (ख)

## पद्यमनेकभेदम् ॥ २६ ॥

पद्यं खलु अनेकेन समार्द्धसमविषमादिना भेदेन भिन्नं भवति। (ग)

## तदनिबद्धं निबद्धञ्च ॥ २७ ॥

तदिदं गद्यपद्यरूपं काव्यमनिबद्धं निबद्धञ्च। अनयोः प्रसिद्धत्वात् लक्षणं नोक्तम्। (घ)

## क्रमसिद्धिस्तयोः स्वयुत्तंसवत् ॥ २८ ॥

तयोरिति अनिबद्धं निबद्धञ्च परामृश्यते। क्रमेण सिद्धिः

---

(क) विपरीतमिति।—सुगमम्।

(ख) चपेटा करतलाघातः। ("चपेटः प्रतते पाणौ तदाघाते स्त्रियामयम्" इत्यमरशेषः)।

(ग) पद्यं विभजते, समेति।—समवृत्तमर्द्धसमवृत्तं विषमवृत्तम्। आदि-शब्देनाऽऽर्य्यावैतालीयादिमात्रावृत्तानां परिग्रहः। समवृत्तादिलक्षणसूत्रं भामहेन,—"सममर्द्धसमं वृत्तं विषमञ्च त्रिधा मतम्। अङ्घ्रयो यस्य चत्वारस्तुल्यलक्षण-लक्षिताः। तच्छन्दःशास्त्रतत्त्वज्ञाः समवृत्तं प्रचक्षते॥ प्रथमाङ्घ्रिसमो यस्य तृतीयश्चरणो भवेत्। द्वितीयस्तुर्य्यवद्वृत्तं तदर्द्धसममुच्यते॥ यस्य पादचतुष्केऽपि लक्ष्म भिन्नं परस्परम्। तदाहुर्विषमं वृत्तं छन्दःशास्त्रविशारदाः॥" इति।

(घ) गद्यपद्ययोरुभयोरप्यवान्तरभेदावाह—तदिति। गद्यपद्यात्मकं काव्यं प्रकृतं तच्छब्देन परामृश्यते इति व्याचष्टे—तदिदं गद्यपद्यरूपमिति। व्याख्याने जाड्य-मत्याख्याने नौद्धत्यमित्यत आह, अनयोः प्रसिद्धत्वादिति।—अनिबद्धं मुक्तकं, निबद्धं प्रबन्धरूपमिति प्रसिद्धिः। मुक्तकलक्षणसूत्रं भामहेन,—"प्रथमं मुक्तकादीनामृजु लक्षणमुच्यते। यदेव गाम्भीर्य्यौदार्य्यशौर्य्यनीतिमतिस्पृशा। भवेन्मुक्तकमेकेन किं द्वाभ्यां त्रिकं त्रिभिः॥" इति। निबद्धानि सर्गबन्धादीनि। तल्लक्षणं काव्यादर्शे,—"सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्" इत्यादिना द्रष्टव्यम्।

क्रमसिद्धिः। अनिबद्धसिद्धौ निबद्धसिद्धिः स्रगुत्तंसवत्। यथा स्रजि मालायां सिद्धायाम् उत्तंसः शेखरः सिध्यतीति। (ङ)

केचित् अनिबद्ध एव पर्य्यवसिताः, तद्दूषणार्थमाह (च)—

**नानिबद्धं चकास्त्येकतेजःपरमाणुवत् ॥ २९ ॥**

न खलु अनिबद्धं काव्यं चकास्ति दीप्यते। यथा एकतेजःपरमाणुः इति। अत्र श्लोकः (छ)—

"असङ्गलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता।
न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तैजसाः परमाणवः॥" इति ॥ ६ ॥

**सन्दर्भेषु दृश्यरूपकं श्रेयः ॥ ३० ॥**

सन्दर्भेषु प्रबन्धेषु दृश्यरूपकं नाटकादि श्रेयः। (ज) कस्मात्? (झ) तदाह—

**तद्धि चित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात् ॥३१॥**

---

(ङ) अनयोरभ्यासक्रममाह, क्रमसिद्धिरिति।—अनिबद्धसभ्यस्य निबद्धरचनायां यतितव्यमित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः "स्रगुत्तंसवत्" इति।

(च) अनिबद्धसिद्धिमात्रेण कविस्मन्यानन्यानपवदितुमाह—केचिदिति।

(छ) प्रावादुकसम्मतिं दर्शयति—अत्र श्लोक इति।

असङ्गलितरूपाणाम् अनिबद्धरूपाणामित्यर्थः॥ ६ ॥

(ज) निबद्धेषु तरतमभावं निरूपयति, सन्दर्भेष्विति।—रूपकस्वरूपं निरूपितं दृश्यरूपके,—"अवस्थाऽनुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते। रूपकं तत्समारोपाद्दृश्यैवं रसाश्रयम्॥" इति। भावप्रकाशेऽपि,—"रूपकं तद्विवेद्रूपं दृश्यत्वात् प्रेक्षकैरिदम्। रूपकत्वं तदारोपात् कमलारोपवन्मुखे॥" इति। दश रूपकाणि तु,—"नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः। व्यायोगसमवाकारौ वीथ्यङ्केहामृगा दश॥" इति। [दशानां रूपकाणां समाहारो दशरूपकम्। समाहारस्यैकत्वादेकवचनम्। प्रावादित्वात् स्त्रीत्वप्रतिषेधे नपुंसकत्वम्]। श्रेयः अतिशयेन प्रशस्यमित्यर्थः।

(झ) श्रेयस्त्वे हेतुं पृच्छति—कस्मादिति।

तद्दशरूपकं हि यस्मात्, चित्रं चित्रपटवत्, विशेषाणां साकल्यात्। (ञ)

## ततोऽन्यभेदकृप्तिः ॥ ३२ ॥

ततो दशरूपकात् अन्येषां भेदानां कृप्तिः कल्पनमिति। दशरूपकस्य एव हि इदं सर्वं विलसितं, यच्च कथाऽऽख्यायिके महाकाव्यम् इति। तल्लक्षणञ्च नातीव हृदयङ्गममिति उपेक्षितमस्माभिः। तदन्यतो ग्राह्यम्। (ट)।

इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ शारीरे प्रथमेऽधिकरणे तृतीयोऽध्यायः।

(काव्याङ्गानि काव्यविशेषाश्च)।

समाप्तश्चेदं शारीरं प्रथममधिकरणम्।

---

(ञ) हेतुमुपन्यस्यति, तदिति।—विशेषाणां भाषाभेदादिरूपाणाम्।

(ट) कथाऽऽख्यायिकादीनां महाकाव्यभेदानामस्मादेव वस्तुविन्यासकल्पनमिति प्रकारान्तरेणापि श्रेयस्त्वस्य प्रतिपादयितुमाह—तत इति। इदं सर्व्वमिति।—कथाऽऽख्यायिकादिमहाकाव्यस्वरूपम्। विलसितमित्यस्य व्याख्यानं खण्डशः क्लृप्तमिति, यत् कथा चाख्यायिका च महाकाव्यमिति व्यपदिश्यते, तदिदं सर्व्वमिति व्याकृत्य योजनीयम्। यदि कथाऽऽख्यायिके महाकाव्ये, तर्हि तल्लक्षणं किमिति न प्रदर्शितम्? इति तवाह—तल्लक्षणमिति। यदि केनचित्तल्लक्षणमपेक्षितं, तन्नाटकादौ द्रष्टव्यमित्याह—तदन्यत इति। नाटकादिलक्षणन्तु ग्रन्थविस्तरभयादस्माभिर्न लिखितम्।

इति कृतरचनायामिन्दुवंशोद्भवेन
विपुरहरधरित्रीमण्डलाखण्डलेन।
ललितवचसि काव्यालङ्क्रियाकामधेना-
वधिकरणमयासीदादिमं पूर्तिमेतत्॥

इति श्रीगोपेन्द्रविपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ शारीरं नाम
प्रथममधिकरणम्।

# अथ दोषदर्शनं नाम द्वितीयमधिकरणम् ।

## प्रथमोऽध्यायः ।

काव्यशरीरे स्थापिते काव्यसौन्दर्य्याक्षेपहेतवः त्यागाय दोषा विज्ञातव्या इति दोषदर्शनं नाम अधिकरणम् आरभ्यते । ( क )

दोषस्वरूपकथनार्थमाह ( ख )—

**गुणविपर्य्ययात्मानो दोषाः ॥ १ ॥**

गुणानां वक्ष्यमाणानां ये विपर्य्ययाः तदात्मानो दोषाः । (ग)

**अर्थतस्तदवगमः ॥ २ ॥**

गुणस्वरूपनिरूपणात् तेषां दोषाणाम् अर्थादवगमोऽर्थात् सिद्धिः । ( घ )

---

निष्कलङ्कनिशाकान्तगर्वसर्वङ्कषप्रभाम् ।
कविकासगवीं वन्दे कमलासनकामिनीम् ॥

( क ) दोषदर्शनं द्वितीयमधिकरणमारभ्यते । अधिकरणद्वयसम्बन्धमेव बोधयति, काव्यशरीरे इति ।—सौन्दर्य्यस्य गुणालङ्कारघटितचारुत्वस्य, आक्षेपः स्वस्थानात् प्रच्यावनं, तस्य हेतवस्तथाविधा दोषाः कविना ज्ञातव्या इत्यनेन दोषज्ञानस्यावश्यकर्त्तव्यतोक्ता । तेषामज्ञाने परित्यागात्मनः फलस्य दुर्लभत्वादिति भावः । दृश्यन्तेऽस्मिन् दोषा इति दोषदर्शनम्, [ अधिकरणार्थे ल्युट् ] ।

( ख ) दोषसामान्यलक्षणं वक्तुं सूत्रमवतारयति—दोषस्वरूपेति ।

( ग ) गुणानामिति ।—विपरीयन्ते इति विपर्य्ययाः विपरीताः, [ कर्म्मार्थेऽच्प्रत्ययः ], त एवात्मानो येषां ते विपर्य्ययात्मानो विपरीतस्वरूपाः, न स्वभावरूपा इत्यर्थः । अनेन गुणविपरीतस्वरूपत्वं दोषसामान्यलक्षणमुक्तं भवति ।

( घ ) ननु गुणेष्ववगतेषु तद्विपर्य्ययस्वरूपा दोषा विनाऽपि लक्षणोदाहरणाभ्यां

किमर्थं ते पृथक् प्रपञ्च्यन्ते ? इत्याह—

**सौकर्य्याय प्रपञ्चः ॥ ३ ॥**

सौकर्य्यार्थं प्रपञ्चो विस्तरो दोषाणाम्। उद्दिष्टा लक्षण-लक्षिता हि दोषाः सुज्ञाना * भवन्ति। (ङ)

पददोषान् दर्शयितुमाह (च)—

**दुष्टं पदमसाधु कष्टं ग्राम्यमप्रतीतमनर्थकञ्च ॥४॥(छ)**

क्रमेण व्याख्यातुमाह (ज)—

**शब्दस्मृतिविरुद्धमसाधु ॥ ५ ॥**

---

सामर्थ्यात् प्रेक्षावद्भिरप्रेक्षितुं शक्यन्ते, किं लक्षणादिप्रपञ्चनेन ? इत्याशङ्क्य सूत्रमनुभाषते—अर्थत इति।

(ङ) आशङ्कानिरासपाकर्तुमनन्तरसूत्रं व्याचष्टे, सौकर्य्यार्थमिति।—दोषस्वरूपे हि प्रेक्षावतामुत्प्रेक्षितुं शक्येऽपि, व्युत्पित्सूनधिकृत्य प्रवृत्तत्वाच्छास्त्रस्य; तैस्तु पदपदार्थ-वाक्यवाक्यार्थदोषाणां स्थूलसूक्ष्मानुद्दिष्टलक्षणपरीक्षाभिर्विना दुरवगमत्वात् तेषां दोषविवेकस्य सौकर्य्याय प्रपञ्च इत्यर्थः। उद्दिष्टा इति।—उद्दिष्टाः नामतः परिगणिताः। लक्षिताः परस्परव्यावृत्ततया दर्शिताः। दोषाः, सुज्ञानाः सुखेन ज्ञातव्या भवन्ति। ["आतो युच्" (३।३।१२८ पा०) इति स्वलर्थे युच्प्रत्ययः]। अस्मिन्नधिकरणे लक्षणीया दोषाः काव्यस्यासाधुत्वापादकाः स्थूला इत्यवगन्तव्यम्। यदक्ष्यति—"ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते" (२ अधि० २ अ० २४ सूत्रस्य वृत्तिः) इति।

(च) शब्दार्थशरीरं हि काव्यम्। अत्र शब्दः पदवाक्यात्मकः। अर्थश्च पदार्थवाक्यार्थरूपः। तत्र पदपदार्थप्रतिपत्तिपूर्विका वाक्यवाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति क्रम-मभिसन्धाय प्रथमं पददोषान् प्रतिपादयितुमाह—पददोषानिति।

(छ) दुष्टं पदमिति प्रत्येकं सम्बन्धनीयम्।

(ज) यथोद्दिष्टं लक्षणं वक्तुमाह—क्रमेणेति।

---

* "उद्दिष्टा लक्षणलक्षिता हि दोषाः सुज्ञानाः" इत्यत्र "उद्दिष्टलक्षणा हि दोषाः सुज्ञाताः" इति पाठान्तरम्।

शब्दस्मृत्या व्याकरणेन विरुद्धं पदमसाधु। (झ)

यथा—"अन्यकारकवैयर्थ्यम्" इति। अत्र हि "अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशाऽऽस्थाऽऽस्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु" इति दुका भवितव्यमिति। (ञ)

## श्रुतिविरसं कष्टम् ॥ ६ ॥

श्रुतिविरसं श्रोत्रकटु पदं कष्टम्। तद्धि रचनागुम्फितमपि उद्वेजयति। (ट) यथा—

"अचूचुरच्चखि! कपोलयोस्ते कान्तिद्रवं द्राग्विशदः शशाङ्कः।" इति ॥ १ ॥

## लोकमात्रप्रयुक्तं ग्राम्यम् ॥ ७ ॥

लोक एव यत्प्रयुक्तं पदं, न शास्त्रे, तद् ग्राम्यम्। (ठ) यथा—

"कष्टं कथं रीदिति फूत्कृतेयम्।" इति ॥ २ ॥

अन्यदपि तल्लगल्लादिकं द्रष्टव्यम्। (ड)

---

(झ) शब्दस्मृतीति।—शब्दशास्त्रमर्य्यादासुल्लङ्घ्य प्रयुक्तं शब्दस्मृतिविरुद्धम्।

(ञ) तदुदाहरति, अन्यकारकेति।—["अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशाऽऽस्थाऽऽस्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु" (६।३।६९ पा०) इति आशीरादिषु परतोऽन्यपदस्य दुगागमेन भवितव्यम्; स तु न श्रुतः,—"दुगागमोऽविशेषेण वक्तव्यः कारकच्छयोः। षष्ठीतृतीययोर्नेष्ट आशीरादिषु सप्तसु॥" इति कारकपदे परतो दुगागमो नियत इत्यन्यकारकपदमसाधु।

(ट) श्रोत्रकटुरिति।—कर्णेन्द्रियकरमित्यर्थः। यदुक्तं भामहेन,—"सन्निवेशविशेषात्तु तदुक्तमभिशोभते।" इति, तन्निराचष्टे, तद्धीति।—विशिष्टसन्दर्भभंगभंगतमपि सहृदयहृदयोद्वेगमाविर्भावयतीत्यर्थः।

अचूचुरदिति।—अत्र द्रागिति पदं कष्टम् ॥ १ ॥

(ठ) ग्रामे भवं ग्राम्यमिति व्युत्पत्तिः, लोकमात्रसिद्धमित्यर्थः।

कष्टमिति।—अत्र फूत्कृतेति पदं ग्राम्यं, तस्य काव्ये प्राचुर्येण प्रयोगादर्शनात् ॥ २ ॥

(ड) "ताम्बूलभृतगल्लोऽयं तल्लं जल्पति मानवः" इत्यादौ यत् तल्लगल्लादिपदं प्रयुज्यते, तदपि ग्राम्यं द्रष्टव्यम्।

**शास्त्रमात्रप्रयुक्तमप्रतीतम् ॥ ८ ॥**

शास्त्र एव प्रयुक्तं यत्, न लोके, तत् अप्रतीतं पदम्। यथा—

"किं भाषितेन बहुना रूपस्कन्धस्य सन्ति मे न गुणाः।
गुणनान्तरीयकश्च प्रेमेति न तेऽस्त्युपालम्भः॥" ३ ॥

अत्र रूपस्कन्धनान्तरीयकपदे न लोके, इति अप्रतीतम्।(ढ)

**पूरणार्थमनर्थकम् ॥ ९ ॥**

पूरणमात्रप्रयोजनम् अव्ययपदम् अनर्थकम्। दण्डापूपन्यायेन पदम् अन्यदपि अनर्थकम् एव। (ण) यथा—

---

किं भाषितेनेति।—इयं हि कस्याश्चिद्विप्रलब्धायाः शठनायकं प्रत्युक्तिः। रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारलक्षणाः पञ्च स्कन्धाः सौगतमते प्रसिद्धाः। अत्र विषयेन्द्रियलक्षणस्य रूपस्कन्धस्य गुणा मे न सन्ति। गुणनान्तरीयकम्, अन्तरशब्दोऽत्र विनार्थः। ("अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्द्विभेदतादर्थ्ये। छिद्रात्मीयविनाभावहृदयसरसध्येऽन्तरात्मनि च॥" इत्यमरः। न अन्तरं नान्तरम्; ततो भवार्थे छप्रत्यये स्वार्थिके च कप्रत्यये सति नान्तरीयकमिति रूपं सिद्धम्)। अविनाभूतमित्यर्थः। प्रेम च गुणनान्तरीयकमिति हेतोः, उपालम्भो निन्दावचनं, ते तव, नास्ति। व्यापकपरावृत्तौ व्याप्यपरावृत्तिरुचितेति भावः॥ ३ ॥

(ढ) अत्र रूपस्कन्ध-नान्तरीयकपदे अप्रतीते।

(ण) पूरणार्थमिति।—पूरणं पादपूरणम्, अर्थः प्रयोजनं यस्येति विग्रहः। दण्डापूपेति।—दण्डप्रीता अपूपा दण्डापूपाः। तथा च दण्डानयनप्रेरणायां दण्डानयनेनैवापूपानयने सिद्धे पुनरपूपानयनप्रेरणं व्यर्थमिति दण्डापूपन्यायः; अथवा,—अपूपदण्डो मूषकैर्भक्षित इत्युक्ते पुनरपूपभक्षणप्रश्नवचनं व्यर्थमिति दण्डापूपन्यायः। तन्न्यायेन चादीनामसत्त्ववचनानामसत्यपि प्रयोगे तदर्थस्यान्वयोऽवगतत्वान्नैराकाङ्क्ष्येण वाक्यार्थविश्रान्तिसिद्धाविह प्रयुज्यमानानां तेषामव्ययानां द्योत्यराहित्येनानर्थकत्वं भवति; किमु वक्तव्यमात्मोपजीव्यवाच्यार्थविरहे वाचकानां पदानामनर्थकत्वम्? इति भावः।

"उदितस्तु हास्तिकविनीलमयं तिमिरं निपीय किरणैः सविता।" ४ ॥

अत्र तुशब्दस्य पादपूरणार्थमेव प्रयोगः। (त)

**न वाक्यालङ्कारार्थम् * ॥ १० ॥**

वाक्यालङ्कारप्रयोजनन्तु न अनर्थकम्। (थ)

अपवादार्थमिदम्। यथा—

"न खल्विह गतागता नयनगोचरं मे गता।" इति ॥ ५ ॥

तथा हि खलु हन्त इति।

सम्प्रति पदार्थदोषान् आह (द)—

**अन्यनेयगूढार्थाश्लीलक्लिष्टानि च ॥ ११ ॥**

दुष्टं पदम् इति अनुवर्त्तते। अर्थतश्च विभक्तिविपरिणामः†। तेन अन्यार्थादीनि पदानि दुष्टानि इति सूत्रार्थः। (ध)

एषां क्रमेण लक्षणानि आह—

**रूढिच्युतमन्यार्थम् ॥ १२ ॥**

---

उदित इति।—हस्तिनां समूहो हास्तिकम्, ["अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्" (४।२।४७ पा०) इति ठक्प्रत्ययः। "हास्तिकं गजता हन्दे" इत्यमरः] तद्वद्विनीलम् ॥ ४ ॥

(त) अत्र तुशब्दस्येति।—भेदावधारणादेर्यौग्यस्यानाकाङ्क्षितत्वादित्यर्थः।

(थ) वाक्येति।—पूरणन्तु प्रतिभादौर्बल्यसूचकतया काव्यविद्भिः प्रयोजनत्वेन नाङ्गीकृतम्।

(द) पदार्थदोषान् प्रपञ्चयितुमाह—सम्प्रतीति।

(ध) अन्यादिभिस्त्रिभिरर्थशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यनीयः। तेषामश्लीलक्लिष्टशब्दयोरिवार्थपदप्रयोगसत्त्वेन न रूढादर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वमित्यर्थपदं प्रयुक्तम्। विभक्तीति।—अत्र प्रथमाया विभक्तेरभेदेन विपरिणामासम्भवात् वचनविपरिणाम इति व्याख्येयम। अन्यार्थादीनीति।—अर्थदोष्यात पदान्यपि दुष्टानीत्यर्थः।

---

* अन्यत्रेदं सूत्रमिदं वृत्तिमध्ये परिगृहीतं दृश्यते।

† "विभक्तिविपरिणामः" इत्यत्र "वचनविपरिणामः" इति पाठान्तरम्।

रूढेः च्युतं रूढिच्युतं, रूढिम् अनपेक्ष्य यौगिकार्थमात्रोपादानात् अन्यार्थं पदम्। स्थूलत्वात् सामान्येन घटशब्दः पटशब्दार्थे इत्यादिकम् अन्यार्थं न उक्तम्। (न) यथा(प)—

"ते दुःखमुच्चावचमावहन्ति ये प्रस्मरन्ति प्रियसङ्गमानाम् * ॥" ६ ॥

अत्र आवहतिः करोत्यर्थो धारणार्थे प्रयुक्तः। प्रस्मरतिः विस्मरणार्थः प्रकृष्टस्मरणार्थे इति। (फ)

---

(न) रूढिः प्रसिद्धिः, ततः च्युतं रूढिच्युतम्। रूढेषु पदेषु रूढिमनादृत्य यौगिकार्थे यत् प्रयुज्यते, तदन्यार्थं पदम्। ननु यत् घटादिपदं पटादिषु प्रयुज्यते, तत् अन्यार्थं पदं दुष्टमिति किमिति नोच्यते? इत्याशङ्क्याह, स्थूलत्वादिति।—पटादिषु प्रयुज्यमानं घटादिपदमन्यार्थमिति सामान्येन नोक्तम्। कुतः? स्थूलत्वात् उत्तानबुद्धिभिरुपलब्धुं शक्यत्वात्। ये केचित् स्थूलमपि दोषमविज्ञाय तथा प्रयुञ्जते, ते पुनरविवेकिनः शासनयोग्या न भवन्तीति प्राक् प्रतिपादितम्।

(प) उदाहरणमुपदर्शयितुमाह—यथेति।

ये प्रियसङ्गमानां प्रणयप्रयुक्तसम्बन्धानां, प्रस्मरन्ति प्रकर्षेण स्मरन्ति, ["अधीगर्थदयेशां कर्मणि" (२।३।५२ पा०) इति कर्मणि षष्ठी]। ते जनाः उच्चावचमनेकभेदम्, ("उच्चावचं नैकभेदम्" इत्यमरः)। दुःखम् आवहन्ति धारयन्तीति कवेर्विवक्षितोऽर्थः ॥ ६ ॥

(फ) अन्यार्थत्वमुपपादयति, अत्रेति।—आङ्पूर्वो वहिर्धातुः करोत्यर्थे रूढः। तथा च प्रयोगः,—"व्रीडमावहति मे स सम्प्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि।" इति। स च रूढिमनादृत्य धारणे यौगिकार्थे प्रयुक्त इत्यन्यार्थत्वम्। प्रपूर्वः स्मरतिरपि विस्मरणार्थे रूढः। तथा च प्रयोगः,—"नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृतः किमथवा पठितोऽपि।" इति। स च रूढिमगणयित्वा प्रकृष्टस्मरणे यौगिकार्थे प्रयुक्त इत्यन्यार्थत्वम्। किञ्च "रूढिच्युतम्" इत्यत्र रूढीति सामान्येनोपात्तत्वाद्योगरूढिरपि परिगृह्यते; तेन पङ्कजादयः शब्दाः कुमुदादिषु न प्रयोज्याः।

---

* "प्रियसङ्गमानाम्" इत्यत्र "प्रियसङ्गतानाम्" इति पाठान्तरम्।

## कल्पितार्थं नेयार्थम् ॥ १३ ॥

अश्रौतस्याप्युन्नेयस्य पदार्थस्य कल्पनात् * कल्पितार्थं नेयार्थम्। ( ब ) यथा ( भ )—

"सपदि पङ्क्तिविहङ्गमनामभृत्तनयसंवलितं बलशालिना।
विपुलपर्वतवर्षि शितैः शरैः प्लवगसैन्यमुलूकजिता जितम् ॥" ७ ॥

अत्र विहङ्गमः चक्रवाकोऽभिप्रेतः, तन्नामानि चक्राणि बिभ्रतीति विहङ्गमनामभृतो रथाः, पङ्क्तिरिति दशसंख्या लक्ष्यते, पङ्क्तिर्दश विहङ्गमनामभृतो रथा यस्य स पङ्क्तिविहङ्गमनामभृत् दशरथः। तस्य तनयाभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां संवलितं प्लवगसैन्यं जितम्। उलूकजिता इन्द्रजिता। कौशिकशब्देन इन्द्रोलूकयोरभिधानम् इति कौशिकशब्दवाच्यत्वेन इन्द्र उलूक उक्तः। ननु चैवं रथाङ्गनामादीनामपि प्रयोगोऽनुपपन्नः? न; तेषां निरूढलक्षणत्वात्। ( म )

---

( ब ) नेयार्थं लक्षयति—कल्पितार्थमिति। अश्रौतस्येति।—सङ्केतसहायः शब्दव्यापारः, तद्विशिष्टः शब्दव्यापारो वा श्रुतिः, तत आगतोऽर्थः श्रौतः, स न भवतीति अश्रौतः, अनभिधेय इत्यर्थः। नन्विदमश्रौतत्वमर्थस्य किं लाक्षणिकत्वम्? नेत्याह, उन्नेयस्येति।—"अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते" इत्येवंलक्षणलक्षणाकक्ष्यामधिक्षिप्य कस्यचिदर्थस्य कल्पने कल्पितार्थं, न तु लाक्षणिकार्थमित्यर्थः।

( भ ) उदाहरणमाह—यथेति।

( म ) उदाहरणवाक्यार्थं विवृणोति, अवेति।—पक्षिसामान्यवाचिना विहङ्गमपदेन तद्विशेषश्चक्रापरनामा चक्रवाको लक्ष्यते, ("कोकश्चक्रश्चक्रवाकः" इत्यमरः) तस्य नामेव नाम येषां तानि तन्नामानि चक्राणीत्यर्थः। पङ्क्तिरिति।—पङ्क्तिश्छन्दसः पादस्य दशाक्षरात्मकत्वात् पङ्क्तिपदेन दशसंख्या लक्ष्यते। विपुलपर्वतवर्षीति प्लवगसैन्यविशेषणम्। कौशिकशब्देनेति।—("महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालगाहिषु कौशिकः।" इत्यमरः) कौशिकशब्देनेन्द्रोलूकयो-

---

* "अश्रौतस्याप्युन्नेयस्य पदार्थस्य कल्पनात्" इत्यत्र "अश्रुतार्थस्य कल्पना" इति पाठान्तरम्।

## अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं गूढार्थम् ॥ १४ ॥

यस्य पदस्य लोकेऽर्थः प्रसिद्धश्च अप्रसिद्धश्च, तत् अप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं गूढार्थम्। (य) यथा(र)—

"सहस्रगोरिवानीकं दुःसहं भवतः परैः।" इति ॥ ८ ॥

सहस्रं गावोऽक्षीणि यस्य स सहस्रगुः इन्द्रः, तस्य इव इति गोशब्दस्य अक्षिवाचित्वं कविषु अप्रसिद्धमिति। (ल)

## असभ्यार्थान्तरमसभ्यस्मृतिहेतुश्चाश्लीलम् ॥ १५ ॥

---

रभिधानादित्यर्थः। उलूकशब्देन कौशिकशब्द उन्नीयते, तेनेन्द्रोऽभिधीयते इति उलूकजित्पदेन इन्द्रजिदुन्नीयते इत्यभिप्रायः। एवं तर्हि प्राचीनकविप्रयोगः पर्य्याकुलः स्यादिति शङ्कते, नन्विति।—रथाङ्गनामादीनामित्यादिपदेन रथाङ्गपाणिप्रभृतीनां परिग्रहः। रथाङ्गनामादिपदानां चक्रवाकादौ निरूढत्वेन रूढ्या योगस्य निगीर्णत्वान्न काचिदनुपपत्तिरिति परिहरति, नेति।—निरूढा लक्षणा येषाम् [इति बहुव्रीहिः]। लक्षणा हि रूढिप्रयोजनवशात् द्विविधा भवति। तत्र रूढलक्षणाः कुशलादयः शब्दाः प्रयोगप्राचुर्यबलेन वाचकशब्दवत् प्रयुज्यन्ते। प्रयोजनलक्षणास्तु "मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षणम्" इत्यादौ विकसितादयः शब्दाः स्मितविलासादिलक्षकतयाऽद्यापि प्रयुज्यन्ते। तदुक्तं,—"निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्। क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥" इति।

(य) गूढार्थं लक्षयितुमाह—अप्रसिद्धेति। अभिमतमनेकत्वमर्थस्य दर्शयति—प्रसिद्धश्चेति।

(र) उदाहरणमुपदर्शयितुमाह—यथेति।

(ल) गोशब्दस्येति।—("गौर्नाके वृषभे चन्द्रे वाग्भूदिग्धेनुषु स्त्रियाम्। द्यौस्तु रश्मिष्टग्बाणस्वर्गवज्राम्बुलोमसु॥") इत्यभिधाने सत्यपि गोशब्दस्य प्राचुर्यणाक्षि प्रयोगादर्शनादक्षिवाचकत्वमप्रसिद्धमित्यर्थः। एतेन "तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्पथः। सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्॥" इत्यादिषु हन्तीत्यादीनां गमनाद्यर्थेषु प्रयोगाः प्रत्युक्ताः।

यस्य पदस्य अनेकार्थस्य एकोऽर्थोऽसभ्यः स्यात्, तत् असभ्यार्थान्तरम्। (व)

यथा—'वर्चः' इति पदं तेजसि विष्ठायाञ्च। (श)

यत्तु पदं सभ्यार्थवाचकमपि * एकदेशद्वारेण असभ्यार्थं स्मारयति, तत् असभ्यस्मृतिहेतुः। (ष)

यथा—'क्रकाटिका' इति। (स)

**न गुप्तलक्षितसंवृतानि ॥ १६ ॥**

अपवादार्थमिदम्। गुप्तं लक्षितं संवृतञ्च न अश्लीलम्। (ह)

एषां लक्षणान्याह—

**अप्रसिद्धासभ्यं गुप्तम् ॥१७॥**

अप्रसिद्धासभ्यार्थान्तरं पदम् अप्रसिद्धासभ्यं, तद्गुप्तम्। (क)

---

(व) अश्लीलं लक्षयितुमाह—असभ्येति। सूत्रार्थं विवृण्वन् क्रमेण लक्षणोदाहरणे दर्शयति, यस्येति।—यस्यानेकार्थवाचकस्य पदस्यैकोऽर्थोऽसभ्यः स्यात्, तदसभ्यार्थान्तरं पदमश्लीलम्।

(श) वर्च इति।—("वर्चांसि ज्वालविड्भासः") इत्यभिधानाज्ज्वालप्रभावाचकत्वेऽपि विड्वाचितया वर्च इति पदमसभ्यार्थान्तरम्।

(ष) यत्त्विति।—सभायां साधुः सभ्यः, ["सभाया यः" (४।४।१०५ पा०) इति यप्रत्ययः]। यत्तु पदं सभ्यार्थवाचकमप्येकदेशेन यदसभ्यार्थस्मृतिं जनयेत्, तदप्यश्लीलम्।

(स) क्रकाटिकेति।—("प्रेतयानं खट्टिः काटिः") इति वैजयन्त्यां शवयानपर्य्यायत्वेनाभिधानात् कण्ठापरभागवाचकमपि क्रकाटिकापदं काटीत्येकदेशेनासभ्यार्थस्मृतिहेतुरित्यश्लीलमित्यभिप्रायः।

(ह) अश्लीलस्य क्वचिदपवादं वक्तुमाह—न गुप्तेति। वृत्तिः स्पष्टार्था।

(क) अप्रसिद्धेति।—यस्यानेकार्थस्य पदस्यैकोऽर्थोऽसभ्योऽपि यद्यप्रसिद्धो भवति,, तदप्रसिद्धासभ्यं पदं गुप्तमित्यर्थः। तदिदमभिसन्धायाऽऽह—असभ्यार्थान्तरमिति।

---

* "सभ्यार्थवाचकमपि" इति पाठः पुस्तकान्तरे न दृश्यते।

यथा—'सम्बाधः' इति पदम्। तद्धि सङ्कटार्थं प्रसिद्धं, न गुह्यार्थमिति। ( ख )

## लाक्षणिकासभ्यं * लक्षितम् ॥ १८ ॥

तत् एव असभ्यार्थान्तरं लाक्षणिकासभ्यार्थान्वितं † पदं लक्षितम्। ( ग )

यथा—'जन्मभूमिः' इति। तद्धि लक्षणया गुह्यार्थं, न स्वशक्त्येति। ( घ )

## लोकसंवीतं संवृतम् ॥ १९ ॥

लोकेन संवीतं लोकसंवीतं यत्, तत् संवृतम्। ( ङ )

यथा—'सुभगा' 'भगिनी' 'उपस्थानम्' 'अभिप्रेतम्' 'कुमारी' 'दोहदम्' ‡ इति। ( च )

---

( ख ) सम्बाध इति।—( "क्लेशेऽपि गन्धः सम्बाधो गुह्यसङ्कटयोर्द्वयोः।" ) इत्यभिधाने सत्यपि "सम्बाधे सुरभीणाम्" "आसने सिचसम्बाधे" इत्यादिषु प्रयोग-प्राचुर्यात् सम्बाधशब्दः सङ्कटार्थः प्रसिद्धः; तदभावात् गुह्यार्थोऽप्रसिद्ध इत्यर्थः।

( ग ) लाक्षणिकासभ्यमिति।—लक्षणया सान्तरार्थनिष्ठशब्दव्यापारेण प्रति-पाद्यं लाक्षणिकम्। [ अध्यात्मादित्वात् भवार्थे ठञ् ]। तथाविधसभ्यमर्थान्तरं यस्य तत् लक्षितमिति सूत्रार्थः। असमर्थमभिसन्धायाऽऽह, तदेवेति।—लाक्षणिकञ्च तत् असभ्यञ्च [ इति कर्मधारयः ]। अर्थविशेषणम्। तेनार्थेनान्वितं तादृशार्थप्रति-पादकमित्यर्थः।

( घ ) जन्मभूमिशब्देन जननस्थानसामान्यमभिधया प्रतिपाद्यते। तद्विशेषस्तु लक्षणयेति व्याचष्टे—तद्धीति। न स्वशक्त्येति।—मुख्यव्यापारेणेत्यर्थः।

( ङ ) लोकेन संवीतम् आवृतं, परिगृहीतमित्यर्थः।

( च ) सुभगादिपदान्येकदेशेन असभ्यार्थस्मृतिहेतुत्वेऽपि लोकपरिगृहीतत्वात्

---

* "लाक्षणिकासभ्यम्" इत्यत्र "लाक्षणिकासभ्यान्वितम्" इति पाठान्तरम्।

† "लाक्षणिकासभ्यार्थान्वितम्" इत्यत्र "लाक्षणिकेन असभ्येनार्थेनान्वितम्" इति व्यस्तपाठो दृश्यते।

‡ "दोहदम्" इत्यत्र "दोहदः" इति क्वचित्।

अत्र हि श्लोकः,—( ङ )

"संवीतस्य हि लोकेन न दोषान्वेषणं क्षमम्।
शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना ?" ॥ ९ ॥

**तच्चैविध्यम् ;—व्रीड़ाजुगुप्साऽमङ्गलाऽऽतङ्कदायिभेदात् ॥२०॥**

तस्य अश्लीलस्य त्रैविध्यं भवति। व्रीड़ाजुगुप्साऽमङ्गलाऽऽतङ्कदायिनां भेदात्। ( ज )

किञ्चित् व्रीड़ादायि भवति। यथा—'वाक्काटवम्' * 'हिरण्यरेताः' इति। ( झ )

किञ्चित् जुगुप्सादायि भवति। यथा—'कपर्दकः' इति। (ञ)

---

प्रयोज्यानि। तदुक्तं दण्डिना,—"भगिनीभगवत्यादि सर्वत्रैवानुसज्यते।" इत्यादि। दोहदम् इति।—"हृद पुरीषोत्सर्गे" इति धातुं स्मारयन्नेकदेशेन असभ्यार्थस्मृतिहेतुः।

( ङ ) अत्र प्राचीनाचार्यसंवादं प्रकटयति—अत्र हि श्लोक इति।

संवीतस्येति।—स्पष्टोऽर्थः॥ ९ ॥

( ज ) द्विविधमश्लीलं त्रेधा विभजते, तच्चैविध्यमिति।—तिस्रो विधाः प्रकारा यस्य तत् त्रिविधं त्रिप्रकारमिति यावत् ; ( "विधा विधौ प्रकारे च" इत्यमरः ) तस्य भावस्त्रैविध्यम्। [ ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात् ष्यञ् ]। तस्याश्लीलस्य त्रैविध्यम्। अमङ्गलस्यातङ्कः शङ्का, ( "रुक्तापशङ्काखातङ्काः" इत्यमरः )। दायिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

( झ ) तत्राद्यमुदाहर्तुमाह—किञ्चिदिति। वाक्काटवमिति।—कटोर्भावः काटवं, वाचः काटवं वचस्त्रैक्ष्ण्यमित्यर्थः। अत्र काट इत्येकदेशेन लिङ्गप्रतीतेर्व्रीड़ादायि, "काटश्चार्णवश्च" इत्यत्र मन्त्रभाष्ये तथा दर्शनात्।

( ञ ) द्वितीयं दर्शयितुमाह—किञ्चिदिति। पर्दः पायवीयपवनध्वनिः, ("पर्दस्तु गुदजे शब्दे कुर्दः कुत्सितनिःस्वने" इति वैजयन्ती)।

---

* "वाक्काटवम्" इत्यत्र "वाक्चाटवम्" इति पाठान्तरे,—चाटशब्दस्य विश्वासघातकार्थकत्वात् व्रीड़ादायित्वम्।

किञ्चिदमङ्गलाऽऽतङ्कदायि भवति। यथा—'संस्थितः' इति। (ट)

## व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम् ॥ २१ ॥

अर्थस्य प्रतीतिरर्थप्रत्ययः। स व्यवहितो यस्मात् भवति, तत् व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम्। (ठ) यथा,—

"दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकानां ज्योत्स्नाजुषां जललवास्तरलं पतन्ति" इति। ॥१०॥

दक्षात्मजाः ताराः, तासां दयितो दक्षात्मजादयितः चन्द्रः, तस्य वल्लभाः चन्द्रकान्ताः, तद्वेदिकानामिति। अत्र हि व्यवधानेन अर्थप्रत्ययः। (ड)

## अन्यत्र अरूढ़त्वात् * ॥ २२ ॥

अरूढ़ावपि † यतोऽर्थप्रत्ययो झटिति, न तत् क्लिष्टम्। (ढ)

---

(ट) अवशिष्टमश्लीलं स्पष्टयति—किञ्चिदिति। संस्थितः मृत इत्यर्थः, ("प्रमीतः संस्थितो मृतः" इत्यमरः)।

(ठ) क्लिष्टमाचष्टे—व्यवहितेति। समासार्थं विग्रहेण दर्शयति, अर्थस्य प्रतीतिरिति।—प्रत्ययोऽत्र ज्ञानम्; ("प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु" इत्यमरः)।

उदाहरति—दक्षात्मजेति ॥ १० ॥

(ड) ननु नेयार्थे क्लिष्टमिदं किमिति नान्तर्भवति, व्यवहितार्थप्रत्ययहेतुत्वाविशेषादित्याशङ्क्य ततो वैषम्यं दर्शयन् लक्ष्ये लक्षणमनुगमयति, अत्र हि व्यवधानेनेति।—व्यवधानमर्थप्रतिपत्तेर्विलम्बः। विलम्बेनार्थाभिधायकं क्लिष्टं, नेयार्थन्तु कल्पितार्थमिति ततो भेदः।

(ढ) अन्यार्थेऽपि चेदं नान्तर्भवतीत्याह, अन्यत्रेति।—प्रकृतादर्थादर्थान्तरे क्वचिदप्यरूढ़त्वात् अप्रसिद्धत्वात् विलम्बेनापि योगवशात् प्रकृतमर्थमभिधत्ते इत्यर्थः। अप्रसिद्धमप्यविलम्बेनार्थाभिधायकं चेत्, न तत् क्लिष्टमित्याह—अरूढ़ावपीति।

---

* "अन्यत्र अरूढ़त्वात्" इत्यत्र "अरूढ़ार्थत्वात्" इति ग्रन्थान्तरीयपाठः। क्वचित् सूत्रमिदं वृत्तिमध्ये पठितं दृश्यते।

† "अरूढ़ावपि" इत्यत्र "अरूढ़ार्थत्वेऽपि" इति पाठान्तरम्।

यथा ( ण )—

"काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः।" इति ॥ ११ ॥

**अन्त्याभ्यां वाक्यं व्याख्यातम् ॥ २३ ॥**

अश्लीलं क्लिष्टञ्च इति अन्त्ये पदे, ताभ्यां वाक्यं व्याख्यातम्। तदपि अश्लीलं क्लिष्टञ्च भवति। ( त )

अश्लीलं यथा ( थ )—

"न सा धनोन्नतिर्या स्यात् कलत्वरतिदायिनी।
परार्थबद्धकक्ष्याणां यत् सत्यं पेलवं धनम् ॥" १२ ॥

"सोपानपथमुत्सृज्य वायुवेगः समुद्यतः।
महापथेन गतवान् कीर्त्यमानगुणो जनैः ॥" इति ॥ १३ ॥

---

( ण ) उदाहरति—यथेति।

( त ) अथ अश्लीलक्लिष्टाख्यदुष्टपदद्वयलक्षणसाम्यात् अश्लीलक्लिष्टवाक्यद्वयमपि लक्षितप्रायमेवेत्युपपादयितुं सूत्रमुपादत्ते, अन्त्याभ्यामिति।—प्रतिपत्तिलाघवार्थमप्रकरणेऽप्यभिधानमित्यवगन्तव्यम्।

( थ ) अश्लीलं वाक्यमपि त्रिविधम्; तत्र व्रीड़ादायि अश्लीलमुदाहरति—यथेति।

नेति।—सा तादृशी, धनोन्नतिः अर्थसम्पत्तिः, न भवति। या कलत्वरतिदायिनी कलत्वस्य रतिं प्रीतिं, दातुं शीलमस्या इति कलत्वरतिदायिनी, न तु परप्रीतिदायिनी यस्मात्, तस्मात् परार्थबद्धकक्ष्याणां परेषामर्थे प्रयोजने, बद्धा कक्ष्या कक्षो यैस्तेषां, परोपकारबद्धप्रतिज्ञानामित्यर्थः; ("कक्ष्या कक्षे वरत्रायाम्" इति वैजयन्ती)। धनम् अर्थः। यत्, सत्यं परमार्थतः। पेलवं मनोज्ञमिति प्रकृतार्थः। अर्थान्तरन्तु—साधनस्य शेफस उन्नतिः, ("साधनमुपगमनयोः शेफसि सिद्धौ निष्पत्तिदापनयोः।" इति नानार्थमाला)। यस्मात् कलत्वस्य रतिं सुरतं दातुं शीलमस्या इति तादृशी न भवति, तस्मात् परासामर्थे बद्धकक्ष्याणां परस्त्रीवशंवदचित्तानामित्यर्थः। धनं पेलवं विरलं भवति, ("पेलवं विरलं तनु" इत्यमरः)। अत्र व्रीड़ादायित्वमतिरोहितम्। अवशिष्टमश्लीलद्वयमुदाहरति, सोपानेति।—सोपानपथमुत्सृज्य, वायुवेगः वायोर्वेग इव वेगो यस्य स तादृशः, समुद्यतः सन्, जनैः स्तूयमानगुणः सन्, महापथेन राजमार्गेण, गतवानिति प्रकृतार्थः। वायुवेगः अपानपथमुत्सृज्य

क्लिष्टं यथा—

"धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः ।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥" इति ॥ १४ ॥

**एतान् पञ्च पदार्थदोषान् विभक्तान् * ज्ञात्वा कविस्त्यजेत् इति तात्पर्य्यार्थः । ( ८ )**

इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ दोषदर्शने द्वितीयेऽधिकरणे
पदपदार्थदोषविभागः नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

समुद्यत इति जुगुप्साद्यर्थि । महापथेन परलोकमार्गेण, गतवानित्यनङ्गलातङ्कदार्थि ॥ १२—१३ ॥

क्लिष्टमुदाहरति, धम्मिल्लस्येति ।—कुरङ्गशावाक्ष्याः धम्मिल्लस्य संयतकचनिचयस्य, अपूर्वोऽदृष्टचरः, बन्धो ग्रथनं, तस्य व्युत्पत्तेश्चातुर्य्यस्य, शोभां प्रेक्ष्य । कस्य मानसं निकामं न रज्यति ? सर्व्वस्यापि मानसं रज्यतीत्यर्थः । [ रज्यतीति कर्म्मकर्त्तरि रूपम् । "कृषिरञ्जोः प्राचां श्यन् परस्मैपदञ्च" ( ३।१।९० पा० ) इति परस्मैपदम् । अपूर्व्वबन्धव्युत्पत्तेरिति धम्मिल्लविशेषणं वा ] । अत्रान्वयव्यवधानान्न पाठिकी वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति स्पष्टमेव क्लिष्टत्वम् ॥ १४ ॥

( ८ ) ननु किं फलमेषां दोषाणामवबोधनेन ? इत्याशङ्क्य, परित्याग एव फलमित्याह—एतानिति ।

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ दोषदर्शने
द्वितीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

* "एतान् पञ्च पदार्थदोषान् विभक्तान्" इत्यत्र "एतान् पदपदार्थदोषान्" इति क्वचित्कः पाठः ।

# द्वितीयोऽध्यायः ।

पदपदार्थदोषान् प्रतिपाद्य इदानीं वाक्यदोषान् दर्शयितुमाह ( क )—

**भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसन्धीनि वाक्यानि ॥ १ ॥**

दुष्टानि इत्यभिसम्बन्धः । ( ख )

क्रमेण व्याचष्टे ( ग )—

**स्खलत्क्षणच्युतवृत्तं भिन्नवृत्तम् ॥ २ ॥**

स्वस्मात् लक्षणात् च्युतं वृत्तं यस्मिन् तत् स्खलत्क्षणच्युतवृत्तं वाक्यं भिन्नवृत्तम् । ( घ )

यथा ( ङ )—

"अयि ! पश्यसि सौधमाश्रितामविरलसुमनोमालभारिणीम् ।" इति ॥ १ ॥

---

चिन्तयामि चिदाकाशचन्द्रलेखां सरस्वतीम् ।
शिरसा श्लाघनाद् यस्याः सार्व्वज्ञ्यं समवाप्यते ॥

( क ) अध्यायद्वयसौहार्दमुन्मुद्रयति, पदपदार्थेति ।—पदपदार्थदोषनिरूपणानन्तरं वाक्यवाक्यार्थदोषनिरूपणं लब्धावसरमिति सङ्गतिः ।

( ख ) वाक्यदोषानुद्दिशति—भिन्नवृत्तेति । "दुष्टं पदम्" ( २ अधि० १ अ० ४ सू० ) इत्यादिसूत्रात् दुष्टमित्येतत् वचनविपरिणामेन वाक्यविशेषणतयाऽनुवर्त्तते इत्याह—दुष्टानीति ।

( ग ) यथोद्देशमेषां लक्षणानि दर्शयिष्यन्, अनन्तरसूत्रमवतारयति—क्रमेणेति ।

( घ ) स्खलत्क्षणच्युतवृत्तमिति ।—स्खलत्क्षणहीनवृत्तानुबन्धि वाक्यमित्यर्थः ।

( ङ ) उदाहरति—यथेति ।

अयि ! पश्यसीति ।—सुमनोमालभारिणीमित्यत्र ["इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु" ( ६।३।६५ पा० ) इति मालाशब्दस्य ङस्वः ] ॥ १ ॥

वैतालीययुग्मपादे लघ्वक्षराणां षण्णां नैरन्तर्यं निषिद्धम्। तच्च क्वतमिति भिन्नवृत्तत्वम्। ( च )

**विरसविरामं यतिभ्रष्टम् ॥ ३ ॥**

विरसः श्रुतिकटुर्विरामो यस्मिन् तद्विरसविरामं यतिभ्रष्टम्। ( छ )

**तद्धातुनामभागभेदे स्वरसन्ध्यक्वते प्रायेण ॥४॥**

तत् यतिभ्रष्टं धातुभागभेदे नामभागभेदे च सति भवति। स्वरसन्धिना अक्वते प्रायेण बाहुल्येन। ( ज )

धातुभागभेदे मन्दाक्रान्तायां यथा ( झ )—

"एतासां राजति सुमनसां दाम कण्ठावलम्बि।" इति ॥ २ ॥

नामभागभेदे शिखरिण्यां यथा ( ञ )—

---

( च ) वैतालीयलक्षणं प्रागुक्तम्। तत्र "ताश्च समे स्युर्नौ निरन्तराः" इति समपादे लघ्वक्षरषट्कस्य नैरन्तर्ये निषिद्धम्। अत्र "अविरलसुम—" इति समपादे षड्पि लघ्वक्षराणि प्रयुक्तानीति लक्षणच्युतत्वम्।

( छ ) द्वितीयं व्याख्यातुं सूत्रमुपादत्ते, विरसविरामामिति।—विरामो विच्छेदनियमः। शेषं सुगमम्।

( ज ) तद्विभागं दर्शयितुमाह, तदिति।—धातुः भ्वादिः। नाम प्रातिपदिकम्। धातोः प्रातिपदिकस्य वा भागतो भेदे अंशतो विच्छेदे। भागभेदमेव विशिनष्टि, स्वरसन्ध्यक्वते इति।—स च भागभेदो यदि स्वरसन्धिना क्वतो न स्यात्, तस्मिन् भागभेदे सति यतिभ्रष्टं नाम दुष्टं भवति। स्वरसन्धिक्वते तु भागभेदे न दुष्टमिति सूचितम्।

( झ ) तत्र प्रथममुदाहर्तुमाह—धातुभागभेदे इति।

एतासामिति।—मन्दाक्रान्ताख्यमिदं वृत्तम्। "मन्दाक्रान्ता जलधिषड्गैर्भौ नतौ तो गुरु चेत्" इति तल्लक्षणादादित्यवसुभिः, ततः षड्भिः, ततः सप्तभिर्वर्णैर्विरामः कर्त्तव्यः। तथा सति "एतासां रा—" इत्यत्र धातुभागभेदे प्राप्तस्य तस्य वैरस्यादिदं वाक्यं यतिभ्रष्टं नाम दुष्टं भवति ॥ २ ॥

( ञ ) द्वितीयमुदाहरति—नामभागभेदे इति।

"कुरङ्गाक्षीणां गण्डतलफलके स्वेदविसरः।" इति ॥ ३ ॥

**मन्दाक्रान्तायां यथा—**

"दुर्दर्शश्यक्रशिखिकपिशः प्राङ्गिणी बाहुदण्डः।" इति ॥ ४ ॥

**धातुनामभागपदग्रहणात् तद्भागातिरिक्तभेदे न भवति यतिभ्रष्टत्वम्। (ट)**

**यथा मन्दाक्रान्तायाम् (ठ)—**

"श्रीभां पुष्णत्ययमभिनवः सुन्दरीणां प्रबोधः।" इति ॥ ५ ॥ *

**शिखरिण्यां यथा—**

---

कुरङ्गाक्षीणामिति।—शिखरिणीवृत्तमिदम्;—"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी" इति लक्षणादादितः षड्भिः, तत एकादशभिः यतिः कर्त्तव्या। ततश्च "कुरङ्गाक्षीणां ग—" इत्यत्र प्रातिपदिकभागभेदे प्राप्तायास्तस्या वैरस्यात् यतिभ्रष्टं भवति ॥ ३ ॥

उदाहरणान्तरमाह, दुर्दर्श इति।—मन्दाक्रान्तालक्षणमुक्तम्। "दुर्दर्शश्च" इत्यत्र विरामो विरसः ॥ ४ ॥

(ट) ननु पदभागभेदे इति सूत्रकरणे धातुनाम्नोरुभयोरपि सङ्ग्रहाल्लाघवं भवति, किं धातुनामग्रहणगौरवेण? इत्याशङ्क्य, पदग्रहणे प्रकृतिप्रत्ययमध्यविरामेऽपि यतिभंशः स्यात्; स मा भूदिति धातुनामग्रहणं कृतमित्याशयवानाह, धातुनामेति।—तयोर्धातुनाम्नोर्भागाः तद्भागाः, तेभ्योऽतिरिक्तभेदे धातुनामभागभेदव्यतिरिक्ते भागभेदे इत्यर्थः।

(ठ) उदाहरति—यथेति।

श्रीभामिति।—"श्रीभां पुष्ण—"इत्यत्र विरामो न वैरस्यमावहतीति भावः ॥ ५ ॥

---

* इतःपरम्—"अन्ये तु पदान्त एव प्रतिषिध्यन्ति, पदञ्च विभक्त्यन्तम्। यथा—

"निकामं चामाङ्गी सरसकदलीगर्भसुभगा
कलाशेषा मूर्त्तिः शशिन इव नेत्रोत्सवकरी।
अवस्थासापन्ना मदनदहनोद्दामविधुरा
प्रियं नः कल्याणी रमयति मनः कम्पयति च ॥" इत्यधिकः पाठः क्वचिद् दृश्यते।

"विनिम्र: श्यामान्तेष्वरपुटचौत्कारविरुते: * ।" इति ॥ ६ ॥

स्वरसन्व्यक्तते इति वचनात् स्वरसन्धिक्तते भेदे न दोष: । ( ङ ) यथा—

"किञ्चिद्भावालसमसरलं प्रेक्षितं सुन्दरीणाम् ।" इति ॥ ७ ॥

**न वृत्तदोषात् पृथक् यतिदोष:,—वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात् ॥ ५ ॥**

वृत्तदोषात् पृथक् यतिदोषो न वक्तव्य:, वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात् । यत्यात्मकं हि वृत्तमिति भिन्नवृत्ते एव यतिभ्रष्टस्य अन्तर्भावान्न पृथग्ग्रहणं कार्य्यम् । ( ढ )

अत आह—

**न, लक्ष्मण: पृथक्त्वात् ॥ ६ ॥**

नायं दोष:, लक्ष्मणो लक्षणस्य पृथक्त्वात् । अन्यद्धि लक्षणं वृत्तस्य, अन्यच्च यते: । गुरुलघुनियमात्मकं वृत्तं, विरामात्मिका च यतिरिति । ( ण )

---

धातुप्रत्ययमध्यविरामे दोषाभावं निरूप्य प्रातिपदिकप्रत्ययमध्यभेदेऽप्युदाहरति, विनिम्र इति ।—श्यामा रात्रि:, अरं कवाटम् । "श्यामान्ते—" इत्यत्र प्रातिपदिक-प्रत्ययमध्यविरामो न दुष्यति ॥ ६ ॥

( ङ ) विशेषणव्यावर्त्त्यं कीर्त्तयति—स्वरसन्धीति ।

उदाहरति, किञ्चिद्भावालसमिति ।—अत्र चतुर्थाक्षरावसाने यतिर्विहिता ; तथा च अलसमित्यत्र अकारस्य सवर्णदीर्घेणैकादेशेन कवलितत्वात् स्वरसन्धिक्तोऽयं नामभागभेद इति न यतिभ्रष्टत्वम ॥ ७ ॥

( ढ ) ननु भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टयोरर्थतो भेदाभावात् न पृथक्कथनमर्थवदिति शङ्का सङ्करयितुमुपरितनं सूत्रमुपन्यस्यति, न वृत्तेति ।—गुरुलघुनियमवत् यतिनियमस्यापि वृत्तलक्षणवाक्येनैवावगन्तव्यत्वात् यतिविशिष्टञ्च वृत्तमिति वृत्तदोषे एव यतिदोषोऽन्त-र्भवतीति शङ्कितुरभिप्राय: ।

( ण ) शङ्कामिमां शकलयितुमुत्तरसूत्रमुपादत्ते, न, लक्ष्मण: पृथक्त्वादिति ।—

---

* "विनिद्र: श्यामान्तेष्वधरपुटसौत्कारविरुते: ।" इति पाठान्तरम् ।

## विरूपपदसन्धि विसन्धि ॥ ७ ॥

पदानां सन्धिः पदसन्धिः। स च स्वरसमवायरूपः प्रत्यासत्तिमात्ररूपो वा, स विरूपो यस्मिन् इति विग्रहः। (त)

## पदसन्धिवैरूप्यं विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वञ्च ॥ ८ ॥

विश्लेषः अवग्रहः * विभागेन पदानां संस्थितिरिति। अश्लीलत्वम् असभ्यस्मृतिहेतुत्वम्। कष्टत्वं पारुष्यमिति। (थ)

विश्लेषो यथा—

"मेघानिलेन असुना एतस्मिन्नद्रिकानने।" ॥ ८ ॥ †

"कमले इव लोचने इमेअनुबध्नाति विलासपद्धतिः।" ॥ ९ ॥

"लोलालकानुबद्धानि आननानि चकासति।" ॥ १० ॥

---

यतिवृत्तयोर्लक्षणभेदात् स्वरूपभेदोऽङ्गीकर्त्तव्यः; तथा च वृत्तदोषे यतिदोषस्यान्तर्भावो दुर्भण इति भावः। लक्षणभेदमेवाह, गुरुलघ्विति।—स्थानविरामेऽपि गुरुलघुविपर्य्यासे भवति वृत्तभङ्गः। अस्थानविरामात्मके यतिभङ्गेऽपि यथोक्तगुरुलघुनियमे सति न वृत्तभङ्ग इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां भिन्नवृत्तयतिभङ्गयोर्भिन्नत्वात् पृथक्कथनमर्थवदित्यर्थः।

(त) अथ विसन्धि वाक्यं विवरीतुमाह—विरूपपदसन्धीति। स चेति।—"किञ्चित् भावालसम्" इत्यत्र स्वरसमवायरूपः। "ते गच्छन्ति प्रभुपरिवृढम्" इत्यत्र प्रत्यासत्तिरूपः।

(थ) विसन्धिनस्त्रैविध्यं वक्तुमाह—पदसन्धीति। विश्लेषोऽवग्रह इति। अत्र पदकालप्रसिद्धोऽवग्रहो न विवक्षितः, किन्तु मात्राकालव्यवधानसाम्यादसंहिताप्रगृह्यलक्षण इत्यभिसन्धायाह, विभागेनेति।—स च विश्लेषो द्विविधः,—प्रगृह्यनिबन्धनः, सन्ध्यविवक्षानिबन्धनश्च।

तत्राद्यमुदाहरति, कमले इति।—यदवादि दण्डिना,—"न संहितां विवक्षामीत्यसन्धानं पदेषु यत्। तदिसन्धीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम्॥" इति। अत्र प्रगृह्यादिहेतुकं विसन्धि न भवतीति सकृत्प्रयोगविषयमिदं द्रष्टव्यम्; असकृत्प्रयोगे तु दुष्टमेव। तदुक्तं साहित्यचूडामणौ,—"प्रगृह्यादिनिबन्धनत्वे पुनरसकृद्दोषः।

---

* "अवग्रहः" इति क्वचित् न दृश्यते।

† "मेघानिलेन" इत्यादि श्लोकार्द्धं पुस्तकान्तरे नास्ति।

अश्लीलत्वं यथा ( द )—

"विरेचकमिदं नृत्यमाचार्य्याभासयोजितम्।" ॥ ११ ॥

"चकासे पनसप्राये: पुरो षण्डमहाद्रुमै:।" ॥ १२ ॥

"विना शपथदानाभ्यां पदवादसमुत्सुकम्।" ॥ १३ ॥

कष्टत्वं यथा ( ध )—

"सञ्जय्युन्नगभास्ते गुर्वाभोगा द्रुमा बभु:।" ॥ १४ ॥

एवं वाक्यदोषान् अभिधाय वाक्यार्थदोषान् प्रतिपादयितुमाह ( न )—

**व्यर्थैकार्थसन्दिग्धायुक्तापक्रमलोकविद्याविरुद्धानि च ॥ ९ ॥ ***

वाक्यानि दुष्टानि इति सम्बन्ध:। ( प )

---

यथा—'धीदोर्बले अतितते उचितार्थवृत्तौ' इत्यादि। सकृत्तु न दोष:; तथाच प्रयोग:,—'लोलयैव धनुषो अधिज्यताम्' इति, 'सहंसपाते इव लक्ष्यमाणे' इति च।" द्वितीयमुदाहरति, लोलालकेत्यादि।—अत्र "न संहितां विवक्षामि"—इति कामचारप्रयुक्त: सकृदपि दोष एव, "नित्या संहितैकपदवत् पादेष्वर्धान्तवर्जम्" ( ५ अधि० १ अ० २ सू० ) इति काव्यसमयाध्याये वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ९—१० ॥

( द ) विविधमश्लील क्रमेणोदाहरति—अश्लीलत्वं यथेति।

विरेचकमित्यादि।—रेचका नाम नृत्ये पाणिपादादिभ्रमणरूपाश्चत्वारो भरतशास्त्रे प्रसिद्धा:। तदुक्तं सङ्गीतरत्नाकरे,—"रेचकानथ वक्ष्यामश्चतुरो भरतोदितान्। पदयो: करयो: कट्या ग्रीवायाश्च भवन्ति ते॥" इति। आचार्येण सता नृत्यं सरेचकं योजनीयम्; इदन्तु नृत्यं विरेचकं रेचकविहीनम्; अत एवाचार्य्याभासयोजितं य: स्वयमनाचार्य्य आचार्य्यवदवभासते, सोऽयमाचार्य्याभास:, तेन योजितम्। अत्र विरेचक-याम-ग्रैप-पुरोष-विनाशपदविन्यासै:, विरेचन-मिथुनीभाव-मेहन-पुरीष-विनाशप्रतीतेस्त्रिविधान्यश्लीलानि द्रष्टव्यानि॥ ११—१३ ॥

( ध ) कष्टत्वमुदाहर्त्तुमाह—कष्टत्वं यथेति।

( न ) उक्तवक्तव्यसङ्गतिपूर्व्वकमुत्तरसूत्रमवतारयति—एवमिति।

( प ) चकारेण समुच्चयमाह—वाक्यानि दुष्टानीति सम्बन्ध इति।

---

* "अयुक्त" इत्यत्र "अप्रयुक्त" इति पाठान्तरम्।

क्रमेण व्याख्यातुमाह—

## व्याहतपूर्वोत्तरार्थं व्यर्थम् ॥ १० ॥

व्याहतौ पूर्वोत्तरार्थौ यस्मिन् तत् व्याहतपूर्वोत्तरार्थं वाक्यं व्यर्थम्। (फ) यथा—

"अद्यापि स्मरति रसोल्लसत् * मनो मे मुग्धायाः स्मरचतुराणि चेष्टितानि।" इति ॥ १५ ॥

मुग्धायाः कथं स्मरचतुराणि चेष्टितानि? तानि चेत् कथं मुग्धा? अत्र पूर्वोत्तरयोः अर्थयोः विरोधात् व्यर्थमिति। (ब)

## उक्तार्थपदमेकार्थम् ॥ ११ ॥

उक्तार्थानि पदानि यस्मिन् तत् उक्तार्थपदमेकार्थम्। (भ) यथा—

"चिन्तामोहमनङ्गमङ्ग! तनुते विश्लेषितं † सुमुखः" ॥ १६ ॥

---

(फ) व्याहतौ परस्परविरुद्धावित्यर्थः।

(ब) मुग्धायाः कथं स्मरचतुराणि चेष्टितानीति।—न कथञ्चित् सम्भवन्ति, व्याहतत्वादित्यर्थः। व्याहतिमेव व्याहरति "स्मरचतुराणि" इति।

(भ) एकार्थं समर्थयितुमाह, उक्तार्थपदमिति।—उक्ताः पदान्तरैः प्रतिपादिताः, अर्थाः येषां तानि उक्तार्थानि, तथाविधानि पदानि यस्मिन् वाक्ये तत् उक्तार्थपदं वाक्यमेकार्थं नाम दुष्टं भवतीति वाक्यार्थः।

चिन्तामोहमिति।—कामिनीकटाक्षपातकलुषितान्तःकरणस्य विरहवेदनामसहमानस्य कस्यचित् कामुकस्येयमुक्तिः। अनङ्गशब्देनात्र विप्रलम्भशृङ्गारो विवक्षितः। तस्य चिन्तामोहाद्युपचितात्मकस्यैव शृङ्गारपदार्थत्वात् तत्कथनेनैव चिन्तामोहयोरवगतत्वाच्चिन्तामोहशब्दौ गतार्थावित्येकार्थौ ॥ १६ ॥

---

* "रसोल्लसत्" इत्यत्र "रसालसम्" इति क्वचित् पाठः।

† "विश्लेषितम्" इति पाठान्तरम्।

अनङ्गः शृङ्गारः तस्य चिन्तामोहात्मकत्वात् * चिन्तामोहशब्दौ प्रयुक्तौ उक्तार्थौ भवतः। एकार्थपदत्वात् वाक्यम् एकार्थम् इति उक्तम्। (म)

**न, विशेषश्चेत् † ॥ १२ ॥**

न गतार्थं दुष्टं, विशेषश्चेत् प्रतिपाद्यः स्यात्। (य)

तं विशेषं प्रतिपादयितुमाह—

**धनुर्ज्याध्वनौ धनुःश्रुतिरारूढेः प्रतिपत्त्यै ॥१३॥**

धनुर्ज्याध्वनावित्यत्र ज्याशब्देन उक्तार्थत्वेऽपि धनुःश्रुतिः प्रयुज्यते, आरूढेः प्रतिपत्त्यै आरोहणस्य प्रतिपत्त्यर्थम्। न हि धनुःश्रुतिमन्तरेण धनुषि आरूढा ज्या धनुर्ज्या इति शक्यं प्रतिपत्तुम्। (र) यथा—

"धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दीर्णा विस्फुरितं तव।" इति ॥ १७ ॥

**कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरःशेखरेषु कर्णादिनिर्देशः सन्निधेः ॥ १४ ॥**

---

(म) नन्वेकार्थत्वलक्षणपरीक्षायामेकार्थत्वं पदस्य प्रतीयते, न तु वाक्यस्य। तत् कथमयं वाक्यदोषः स्यात्? इत्याशङ्क्य क्वचिन्न्यायेनैकदेशधर्मः समुदाये पर्य्यवस्यतीत्याशयवानाह—एकार्थपदत्वादिति।

(य) क्वचिदपवादं वक्तुमाह, न विशेषश्चेदिति।—यदि विशेषः प्रतिपाद्यः, तदानीमेकार्थं दुष्टं न भवतीति सूत्रार्थः।

(र) धनुर्ज्याध्वनाविति।—श्रुतिरत्र वाचकः शब्दः। स्पष्टमवशिष्टम्।

धनुर्ज्याकिणेति।—ज्याशब्दस्यावयवयोगे ज्यावत्त्वेनापि किणसम्भवात् भवेदनौचित्यम्; तथा च प्रयोगः,—"ज्यावत्त्वनिष्पन्दभुजेन यस्य" इति ॥ १७ ॥

---

* "चिन्तायां मोहात्मकत्वात्" इति पाठान्तरम्।

† इतःपरम् "एकार्थं दुष्टम्" इत्यधिकः पाठः क्वचित् दृश्यते।

कर्णावतंसादिशब्देषु कर्णादीनाम् अवतंसादिपदैः उक्तार्थानामपि निर्देशः सन्निधेः प्रतिपत्त्यर्थमिति सम्बन्धः। न हि कर्णादिशब्दनिर्देशम् अन्तरेण कर्णादिसन्निहितानाम् अवतंसादीनां शक्या प्रतिपत्तिः कर्त्तुमिति। (ल) यथा—

"दोलाविलासेषु विलासिनीनां कर्णावतंसाः कलयन्ति कम्पम्॥" १८॥

"लीलाचलच्छ्रवणकुण्डलमापतन्ति॥" १९॥

"आययुर्भृङ्गमुखरशिरःशेखरशालिनः *।" इति॥ २०॥

## मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दः शुद्धेः॥ १५॥

मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दो हारशब्देन एव गतार्थः प्रयुज्यते शुद्धेः प्रतिपत्त्यर्थमिति सम्बन्धः। मुक्तानां शुद्धानाम् अन्यरत्नैः अमिश्रितानां हारो मुक्ताहारः। (व) यथा—

"प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः।
मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम्॥" इति॥ २१॥

---

(ल) उक्तन्यायमन्यत्रापि सञ्चारयितुमाह—कर्णावतंसेत्यादि। उक्तार्थानामपीति।—अवतंसादिभिः कर्णाभरणादीन्येवोच्यन्ते इति अवतंसादिप्रयोगे कर्णादीनां गतार्थत्वमित्यभिप्रायः। अन्वयं दृढ़यितुं व्यतिरेकमाह—न हीति।

दोलेति।—"कर्णावतंसाः कलयन्ति कम्पम्" "लीलाचलच्छ्रवणकुण्डलमापतन्ति" इत्यत्र लीलाचलनक्रियायोगादाढ़्यप्रतिपत्तिर्भवत्येव। अतः "अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम्। तथैव शोभतेऽत्यन्तमस्याः श्रवणकुण्डलम्" इत्यादुदाहर्त्तव्यम। आययुरिति।—स्पष्टार्थम्। धनुर्ज्यादिसूत्रे एवैकत्र कर्णावतंसादीनामपि परिगणने कर्त्तुं शक्येऽपि प्रयोजनभेदं प्रतिपादयितुं सूत्रभेदः कृत इति द्रष्टव्यम्॥ १८—२०॥

(व) मुक्ताहारेत्यादि।—सुबोधम्।

प्राणेश्वरेति।—ननु हसतीव स्तनद्वयमिति हासोत्प्रेक्षणसामर्थ्यादेव हारस्य रत्नान्तरासंवलनलक्षणा शुद्धिः प्रतीयते, न मुक्ताशब्दसन्निधानात्; अन्यथा हासोत्प्रेक्षैव नोदयमासादयेत्; अतो नेदमुदाहरणमिति चेत्, मैवम्; हारशुद्धिप्रतिपत्त्या हासोत्प्रेक्षा, हासोत्प्रेक्षया च हारशुद्धिप्रतिपत्तिरिति परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। अतो मुक्ता-

---

* "भृङ्गमुखराः" इत्यसमस्तपाठोऽपि दृश्यते।

**पुष्पमालाशब्दे पुष्पपदमुत्कर्षस्य ॥ १६ ॥**

पुष्पमालाशब्दे मालाशब्देन एव गतार्थं पुष्पपदं प्रयुज्यते उत्कर्षस्य प्रतिपत्त्यर्थमिति। उत्कृष्टानां पुष्पाणां माला पुष्पमाला इति। (ग) यथा—

"प्रायशः पुष्पमालेव कन्या सा कं न क्षोभयेत्?" इति ॥ २२ ॥

ननु मालाशब्दोऽन्यत्रापि दृश्यते। यथा—"रत्नमाला" "शब्दमाला" इति? सत्यम्; स तावत् * उपचरितस्य प्रयोगः। निरुपपदो हि मालाशब्दः पुष्परचनाविशेषमेव अभिधत्ते इति। (घ)

**करिकलभशब्दे करिशब्दस्तादृप्यस्य ॥ १७ ॥**

करिकलभशब्दे करिशब्दः कलभेन एव गतार्थः प्रयुज्यते तादृप्यस्य प्रतिपत्त्यर्थमिति। करी प्रौढकुञ्जरः, तद्रूपः कलभः करिकलभ इति। (ङ) यथा—

"त्यज करिकलभ! त्वं प्रेमबन्धं करिण्याः।" इति ॥ २३ ॥

**विशेषणस्य च ॥ १८ ॥**

---

शब्दसन्निधानादेव हारशुक्तिप्रतिपत्तिरिति भवत्युदाहरणमिदम्। ("हारी मुक्तावली") इत्यभिधानादत्र हारशब्दो मुख्यया वृत्त्या रत्नान्तरासंवलितमुक्तागुणसमभिधत्ते। अतः शुक्तेः प्रतिपत्तिः शब्दत एव लिङ्गेति यदि पक्षः, तदा पुष्पमालाशब्दे पुष्पपदवन्मुक्ताहारशब्देऽपि मुक्तापदं कस्यचिदुत्कर्षस्य प्रतिपत्त्यै प्रयुज्यते। स चोत्कर्षः वासादिदोषशून्यत्वं, स्थूलवृत्तत्वं, स्वच्छताऽतिशयश्चेति व्याख्येयम् ॥ २१ ॥

(ग) पुष्पमालेत्यादि।—व्यक्तार्थम्।

(घ) ननु मालाशब्दस्य रूपहंसमेघादिमालासु प्रयोगदर्शनात् तद्व्यावृत्तिः प्रयोजनं पुष्पपदस्य, न पुनरुक्तिरिति शङ्कते—नन्विति। मालाशब्दः पुष्परचनायां मुख्यः, लाक्षणिकः पुनरन्यत्रेति वृत्तिभेदान्नायं दोष इति परिहरति—स तावदिति।

(ङ) करिकलभेत्यादि।—व्यक्तार्थम्।

---

* "सत्यं स तावत्" इत्यत्र "सत्यम्" इति पाठः पुस्तकान्तरे न दृश्यते।

विशेषणस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थम् उक्तार्थस्य पदस्य प्रयोगः। ( ङ ) यथा,—

"जगाद मधुरां वाचं विंशदाक्षरशालिनीम्।" इति ॥ २४ ॥

## तदिदं प्रयुक्तेषु ॥ १९ ॥

तत् इदम् उक्तं प्रयुक्तेषु, न अप्रयुक्तेषु। न हि भवति यथा 'श्रवणकुण्डलम्' इति, तथा 'नितम्बकाञ्ची' इत्यपि। यथा वा 'करिकलभः' इति, तथा 'उष्ट्रकलभः' इत्यपि। ( क )

## संशयकृत् सन्दिग्धम् ॥ २० ॥

यद्वाक्यं साधारणानां धर्माणां श्रुतेः, विशिष्टानाञ्चाश्रुतेः संशयं करोति, तत् संशयकृत् सन्दिग्धमिति। ( ख ) यथा,—

"स महाक्षाभाग्यवशान्महापदमुपागतः" ॥ २५ ॥

---

( ङ ) विशेषणस्येति।—शब्दान्तरस्य सन्निधानादुक्तार्थोऽपि विशेष्यशब्दः प्रयुज्यते, स च विशेषणस्य प्रतिपत्त्यै भवति।

जगादेति।—जगादित्यनेन गतार्थस्य वाक्शब्दस्य माधुर्य्यवर्णवैशद्यलक्षणप्रतिपत्त्यै प्रयोग इष्यते इति वाक्यार्थः। "जगाद मधुरोदारविंशदाक्षरमीश्वरः" इति विन्यासकल्पनायां विशेषणस्य प्रयोगः क्रियाविशेषणत्वेऽप्युपपद्यते; अतः "नीलनीरजविकासहारिणा कान्तमीक्षणयुगेन वीक्षते" इत्युदाहार्य्यम् ॥ २४ ॥

( क ) तदेतत् सार्थकत्वसमर्थनमभियुक्तप्रयुक्तपदनिर्वाहाय, न सर्व्ववेति नियन्तुमाह, तदिदमिति।—प्रयुक्तेषु, अभियुक्तैरिति शेषः। नाप्रयुक्तेष्विति।—तथोक्तं काव्यप्रकाशे,—"कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्म्मितिः। सन्निधानादिबोधार्थं स्थितेष्वेतत् समर्थनम्॥" इति। * अप्रयुक्तानि दर्शयति—यथेति।

( ख ) इत्यसेकार्थं समर्थ्य, सन्दिग्धं समर्थयितुमाह—संशयकृत् सन्दिग्धमिति। व्याचष्टे—यद्वाक्यमिति। विशिष्टानामिति।—असाधारणानामित्यर्थः।

---

* श्लोकोऽयं क्वचित् एकोनविंशसूत्रवृत्तौ "उष्ट्रकलभः इत्यपि" इत्यनन्तरं मूलेऽपि पठितो दृश्यते।

किं भाग्यवशात् महापदम् उपागतः, आहोस्वित् अभाग्यवशात् महतीम् आपदम् इति संशयकृद्वाक्यं प्रकरणाद्यभावे सति इति । ( ग )

## मायादिविकल्पितार्थमयुक्तम् ॥ २१ ॥

मायादिना विकल्पितोऽर्थो यस्मिन् तत् मायादिविकल्पितार्थम् अयुक्तम् । अश्लोकम् उदाहरणम् । * ( घ )

## क्रमहीनार्थमपक्रमम् ॥ २२ ॥

उद्देशिनाम् अनूद्देशिनाञ्च † क्रमः सम्बन्धः, तेन हीनोऽर्थो यस्मिन् तत् क्रमहीनार्थम् अपक्रमम् । ( ङ ) यथा,—

---

( ग ) उक्तलक्षणमुदाहरणे योजयति—किं भाग्यवशादिति । लक्षणं विशिनष्टि, प्रकरणादीति ।—अत्रादिपदेन संयोगादयो गृह्यन्ते । यथोक्तं हरिणा,—"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥" इति ।

( घ ) अयुक्तं व्यक्तयितुमाह, मायाऽऽदिविकल्पितार्थमयुक्तमिति ।—मायाऽऽदिना कुशलमतिकुण्ठनपटिष्ठकुहनादिना, विकल्पितः विरूपतया कल्पितः, अर्थो यस्मिन् तदाक्यमयुक्तं भवति । अश्लोकमुदाहरणमिति ।—विदग्धमुखमण्डने,—"प्राहुर्व्यस्तं समस्तञ्च विर्व्यस्तं हि:समस्तकम् । तथा व्यस्तसमस्तञ्च विर्व्यस्तकसमस्तके ॥" इत्यादिना ।

( ङ ) अपक्रममालोचयितुमुपक्रमते—क्रमहीनार्थमपक्रममिति । प्रतियोगिप्रतिपत्तिपूर्व्वकत्वात् क्रमाभावप्रतिपत्तेः प्रथमतः क्रममेकं प्रथयितुमाह—उद्देशिनामिति । तेन हीनः तदभाववान् ।

---

* "विकल्पितार्थमयुक्तम्" इत्यत्र "कल्पितार्थमप्रयुक्तम्" तथा "विकल्पितः" "विकल्पितार्थमयुक्तम्" "अश्लोकम्" इत्येतेषु क्रमात् "कल्पितः" "कल्पितार्थमप्रयुक्तम्" "अत्र श्लोकम्" इति पाठान्तराणि ।

† "उद्देशिनामनूद्देशिनाञ्च" इत्यत्र "उद्देशितानामनूद्देशितानाञ्च" इति पाठान्तरम् ।

"कीर्त्तिप्रतापौ भवतः सूर्य्याचन्द्रमसौः समौ।" इति ॥ २६ ॥

अत्र कीर्त्तिः चन्द्रमसः तुल्या, प्रतापः सूर्य्यस्य तुल्यः, सूर्य्यस्य पूर्वनिपातात् अपक्रमः। अथवा प्रधानस्यार्थस्य प्रथमनिर्देशः * क्रमः, तेन हीनोऽर्थो यस्मिन् तत् अपक्रमम्। ( च ) यथा,—

"तुरङ्गमय मातङ्गं प्रयच्छास्मै मदालसम्।" इति ॥ २७ ॥

## देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि लोकविरुद्धानि ॥ २३ ॥

देशकालस्वभावैः विरुद्धोऽर्थो येषु तानि देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि वाक्यानि लोकविरुद्धानि। अर्थद्वारेण लोकविरुद्धत्वं वाक्यानाम्। ( छ )

देशविरुद्धं यथा, ( ज )—

"सौवीरेष्वस्ति नगरी मथुरा नाम विश्रुता।
अचीटनालिकेराढ्या यस्याः पर्य्यन्तभूमयः॥" इति ॥ २८ ॥

---

कीर्त्तीति।—उदाहरणमुज्ज्वलार्थम् † ॥ २६ ॥

( च ) अन्यं क्रममभिधत्ते, अथवेति।—प्रधानस्य अभ्यर्हितस्येत्यर्थः।

तुरङ्गमिति।—मातङ्गं तुरङ्गं वा प्रयच्छेति वक्तव्ये व्युत्क्रमेणोक्तं वाक्यमस्य कवेरनभिज्ञतामापादयतीति दुष्टम् ॥ २७ ॥

( छ ) लोकविरुद्धं दर्शयितुमाह—देशकालस्वभावविरुद्धार्थानीति। अर्थद्वारेणेति।—विरुद्धार्थप्रतिपादकत्वाद्वाक्यानि विरुद्धानि व्यपदिश्यन्ते।

( ज ) क्रमेणोदाहरति—देशविरुद्धमिति।

सौवीरेष्विति।—अचीटाः शैलोत्पन्ना गुडफलवृक्षाः, ("पीलौ गुडफलः खंसी तस्मिंस्तु गिरिसम्भवे। अचीटकर्परालौ द्वौ" इत्यमरः)। यमुनातीरवर्त्तिन्या मथुराया नगर्याः सौवीरेषु देशेष्वसम्भवात् देशविरोधः ॥ २८ ॥

---

* "प्रथमनिर्द्देशः" इत्यत्र क्वचित् "प्रथम" इति पदाभावः।

† "उदाहरणमुज्ज्वलार्थम्। अन्यम्" इत्यत्र "उदाहरति, यथेति। उज्ज्वलार्थमन्यम्" इति पाठभेदः।

कालविरुद्धं यथा,—

"कदम्बकुसुमस्मेरं मधौ वनमशोभत।" इति ॥ २९ ॥

स्वभावविरुद्धं यथा,—

"मत्तालिमङ्ग * मुखरासु च मञ्जरीषु

सप्तच्छदस्य तरतीव शरन्मुखश्रीः।" इति ॥ ३० ॥

सप्तच्छदस्य स्तवका भवन्ति, न मञ्जर्य इति स्वभावविरुद्धम्। (झ) तथा,—

"भृङ्गेण † कलिकाकोषस्तथा मृदुसमपीड्यत।

यथा गोष्पदपूरं हि ववर्ष बहुलं मधु" ॥ २१ ॥

---

कदम्बेति।—मधुर्वसन्तः, {"चैववसन्तमधुद्रुमदैत्यविशेषेषु पुंसि मधुशब्दः" इति नानार्थरत्नमाला)। प्रावृषि प्रसवोद्गमशालिनः कदम्बस्य वसन्ते प्रसूनप्रसङ्गासम्भवात् कालविरोधः ॥ २९ ॥

मत्तालिमङ्गेति।—मङ्गः स्तुतिपाठकः। ("नान्दीकारश्चाटुकारो मङ्गश्च स्तुतिपाठकः।" इति वैजयन्ती) ॥ ३० ॥

(झ) स्तवकाः गुच्छाः। ("स्याद्गुच्छकस्तु स्तवकः" इत्यमरः)। ते नाम स्तवकाः, पुष्पाणि पुञ्जीभूय यत्र वर्त्तन्ते। मञ्जर्यः वल्लर्यः। ("वल्लरी मञ्जरी स्त्रियाम्" इत्यमरः)। यत्र आयामवती प्रसूनपरिपाटी, ता एव मञ्जर्यः। अतः सप्तच्छदस्य स्वभावतो गुच्छा एव, न तु मञ्जर्यः सम्भवन्तीति स्वभावविरुद्धम्।

भृङ्गेणेति।—कलिका कोरकः। अनुद्भिन्नमुकुला कलिका कलिकाकोषः। तत्र गोष्पदपूरणपर्य्याप्तस्य मधुनोऽसम्भवात् स्वभावविरुद्धम्। [गोष्पदपूरमित्यत्र—गोः पदं प्रमाणतया अवच्छेदकमस्य वर्षस्येत्यस्मिन्नर्थे गोष्पदमिति भवति; "गोष्पदं संवितासेवितप्रमाणेषु" (६।१।१४५ पा०) इति गोष्पदशब्दो निपातितः। गोष्पदं पूरयित्वा ववर्ष गोष्पदपूरं ववर्ष। "वर्षप्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम्" (३।४।३२ पा०) इति णमुल्]। लोकविरुद्धमपि क्वचित् कविसमयप्रसिद्धेः प्राबल्यान्न दुष्टम्; यथा,—"सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदीमहसि सुहृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः। तदनु भवतः कीर्त्तिः केनाप्यगीयत येन सा प्रियसुहृन्मान्मुक्ताश्रद्धा

---

* "मङ्ग" इत्यत्र "सङ्ग" इति पाठभेदः।

† "भृङ्गेण" इत्यत्र "भृङ्गौघैः" इति पाठः क्वचित्।

कलिकायाः सर्वस्या मकरन्दस्य एतावत् बाहुल्यं स्वभावविरुद्धम्।

**कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धार्थानि विद्याविरुद्धानि ॥२४॥**

कलाशास्त्रैः चतुर्वर्गशास्त्रैश्च विरुद्धोऽर्थो येषु तानि कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धार्थानि वाक्यानि विद्याविरुद्धानि। वाक्यानां विरोधोऽर्थद्वारकः। (ञ)

कलाशास्त्रविरुद्धं यथा, (ट)—

"कालिङ्गं लिखितमिदं वयस्य! पद्यं पद्मैरपतितकोटिकण्टकाग्यम्" ॥ ३२ ॥

कालिङ्गं पतितकोटिकण्टकाग्यम् इति पद्यविदाम् आम्नायः; तद्विरुद्धत्वात् कलाशास्त्रविरुद्धम्। एवं कलान्तरेषु अपि विरोधोऽभ्यूह्यः। (ठ)

चतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धानि तु उदाह्रियन्ते, (ड)—

---

क्व नासि शुभप्रदः॥" इति। एवमन्यत्रापि लोकयात्राकविसमर्थादयोर्विप्रतिषेधे पूर्ववदौर्बल्यमवगन्तव्यम् ॥ ३१ ॥

(ञ) विद्याविरुद्धानि विवरीतुमाह, कलाचतुर्व्वर्गेति।—शास्त्रपदस्योभयत्र सम्बन्धः। प्रतिपाद्यस्य दुष्टत्वे प्रतिपादकमपि दुष्टं भवतीत्याह—वाक्यानामिति।

(ट) कलाशास्त्रविरुद्धमुदाहरति—कलाशास्त्रेति।

कालिङ्गमिति।—कलिङ्गजनेषु दृष्टं पद्यं कालिङ्गमित्युच्यते; तच्च पतितकोटिकण्टकायतया लेखनीयम् ॥ ३२ ॥

(ठ) तदर्थं तच्छास्त्रफक्किकामाह, कालिङ्गं पतितकोटिकण्टकाग्यमिति पद्यविदामाम्नाय इति।—विरोधस्तु परिस्फुट एव। एवमिति।—भरतकलाविरोधो यथा,—"रणद्विराघट्टनया नभस्वतः" इत्यादावानुलोम्येन प्रातिलोम्येन वा नभस्वत्सञ्चारक्रमेण स्वरा उत्पद्यन्ते, न पुनर्वैचित्र्येणेति कुतो रागसम्बन्धिनीनां मूर्च्छनानां स्फुटीभाव इत्यादि द्रष्टव्यम।

(ड) धर्म्मार्थकामनोक्षाः चतुर्व्वर्गः, ("त्रिवर्गो धर्म्मकामार्थैस्तुर्व्वर्गः सकलोक्षकैः।" इत्यमरः)। तत्प्रतिपादकशास्त्राणि चतुर्व्वर्गशास्त्राणि, तद्विरुद्धानि क्रमेणोदाहर्त्तुं प्रतिजानीते—चतुर्व्वर्गेति।

"कामोपभोगसाकल्यफलो * राज्ञां महीजयः" ॥ ३३ ॥

**धर्म्मफलोऽश्वमेधादियज्ञफलो वा राज्ञां महीजय इति आगमः। तद्विरोधात् धर्म्मशास्त्रविरुद्धार्थम् एतद्वाक्यमिति। (ढ)**

"अहङ्कारेण जीयन्ते द्विषन्तः किं नयश्रिया ?" ॥ ३४ ॥

**द्विषज्जयस्य नयमूलत्वं स्थितं दण्डनीतौ। तद्विरोधात् अर्थशास्त्रविरुद्धार्थं वाक्यमिति। (ण)**

"दशनाङ्कपरिवितीत्तरोष्ठं रतिखेदालसमाननं स्मरामि" ॥ ३५ ॥

**"उत्तरोष्ठमन्तर्मुखं नयनार्त्तमिति मुक्ता चुम्बननखरदशनस्थानानि।" इति कामशास्त्रे स्थितम्। तद्विरोधात् कामशास्त्रविरुद्धार्थं वाक्यमिति। (त)**

"देवताभक्तितो मुक्तिर्न तत्त्वज्ञानसम्पदा" ॥ ३६ ॥

---

तत्र धर्म्मशास्त्रविरुद्धमुदाहरति—कामोपभोगेति ॥ ३३ ॥

(ढ) तत्रागमवाक्यं दर्शयति, अश्वमेधादीति।—महीजयस्य राज्ञामश्वमेधादिफलत्वेन धर्म्मशास्त्रेऽभिधानात्, तद्विरुद्धं कामोपभोगसाकल्यफलवाक्यम्। यथा वा,—"सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः। नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च ॥" अत्र ग्रहोपरागं विना रात्रौ स्नानं धर्म्मशास्त्रविरुद्धम्;—"रात्रौ स्नानं न कुर्वीत राहोरन्यत्र दर्शनात्" इति स्मृतेः।

अर्थशास्त्रमत्र दण्डनीतिः, यत्र पुनरर्थकामौ प्रधानं, लोकयात्रानुवृत्तिमात्राय धर्म्मः, सा दण्डनीतिः; यस्या भगवान् बृहस्पतिः प्रवक्ता। तद्विरुद्धमुदाहरति—अहङ्कारेणेति ॥ ३४ ॥

(ण) विरोधं विवृणोति—द्विषज्जयस्येति।

तत् कामशास्त्रं, यत्र त्रिवर्गस्य परस्परानुपरोधादुपयोगोपदेशः; यस्य भगवान् भार्गवः प्रणेता। कामशास्त्रविरुद्धं दर्शयति—दशनेति ॥ ३५ ॥

(त) विरोधं विवेचयति—उत्तरोष्ठमिति।—उक्तं हि रतिरहस्ये,—"अङ्गुष्ठे पदगुल्फजानुजघने—" इत्यादि।

मोक्षशास्त्रविरुद्धमुदाहरति—देवताभक्तित इति ॥ ३६ ॥

---

* "कामोपभोगसाफल्यफलो" इति पाठान्तरम्।

एतस्यार्थस्य मोक्षशास्त्रे स्थितत्वात् तद्विरुद्धार्थम्। (थ)

एते वाक्यवाक्यार्थदोषास्त्यागाय ज्ञातव्याः। ये तु अन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्माः, ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते। उपमादोषाश्च उपमाविचारे। (द)

इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ दोषदर्शने द्वितीयेऽधिकरणे वाक्यवाक्यार्थ-
दोषविभागो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

समाप्तं दोषदर्शनं नाम द्वितीयमधिकरणम्।

---

(थ) विरोधं व्युत्पादयति, एतस्येति।—"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन!। आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ!॥ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते॥" इत्युक्तनीत्या या ज्ञानलक्षणा भक्तिः, साऽत्र न विवक्षिता; किन्त्वार्त्तत्वादिप्रयुक्ता विरूपा। ज्ञानरूपायास्तु भक्तेर्मोक्षो भवत्येव। तदुक्तं तत्रैव,—"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।" इति। अतः "न तत्त्वज्ञानसम्मदा" इत्येतत् "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" इत्यादिमोक्षशास्त्रविरुद्धम्।

(द) प्रतिपादितानामेषां दोषाणां परिज्ञानस्य फलमाह—एते इति। ये त्वन्ये इति।—सूक्ष्माः काव्यसौन्दर्य्यक्षेपानतिक्षमाः। "औचीत्यविपर्य्ययात्मा दोषः" (३ अधि० १ अ० ७ सूत्रस्यावतारणा) इत्यारभ्य तदुदाहरणप्रत्युदाहरणाभ्यां वक्ष्यन्ते; ते गुणविवेचने यथायथमवबोध्याः। यद्येवं तर्हि स्थूलत्वादुपमादोषा दोषविवेचने विचित्यन्तामित्यत आह, उपमादोषाश्चेति।—उपमाविचारे तद्दोष-विचारणं प्रतिपत्तिसौकर्य्याय भवतीति भावः।

इति क्षतरचनायामिन्दुवंशोद्दीप्त
त्रिपुरहरधरित्रीमण्डलाखण्डलेन।
ललितवचसि काव्यालङ्क्रियाकामधेना-
वधिकरणमयासीत्पूर्त्तिमेतद्द्वितीयम्॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्ति-
व्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ दोषदर्शनं नाम
द्वितीयमधिकरणम्॥ २॥

# अथ गुणविवेचनं नाम तृतीयमधिकरणम् ।

## प्रथमोऽध्यायः ।

यद्विपर्य्ययात्मानो दोषास्तान् गुणान् विचारयितुं गुणविवेचनमधिकरणमारभ्यते । ( क )

तत्र ओजःप्रसादादयो गुणाः, यमकोपमादयस्तु अलङ्कारा इति स्थितिः काव्यविदाम् । ( ख )

तेषां किं भेदनिबन्धनम् ? इत्याह, ( ग )—

**काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः ॥ १ ॥**

ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति, ते गुणाः । ते च ओजःप्रसादादयः, न यमकोपमादयः ; कैवल्येन *

---

देव्याः कृतिषु दीव्यन्त्या वाचां वैचित्र्यकारिणीम् ।

चेतोहरचमत्कारां प्रस्तौमि गुणविस्तृतिम् ॥ १ ॥

( क ) उक्तावक्तव्यसङ्गतिमुल्लिङ्घयति, यद्विपर्य्ययात्मानो दोषा इति ।—निर्वृत्त दोषनिरूपणे तत्प्रतिभटानां गुणानां निरूपणं लब्धावसरमिति सङ्गतिः । गुणा अलङ्कारेभ्यो विविच्यन्ते, ते च परस्परं विविच्यन्ते विभज्यन्तेऽस्मिन्निति गुणविवेचनं नामाधिकरणमारभ्यते ।

( ख ) "काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते । काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्राग्यत्नलङ्घ्याः ॥" इति दण्डिमतं खण्डयितुं गुणालङ्कारभेदं दर्शयिष्यन्, पीठिकां प्रतिष्ठापयति, तत्रेति ।—काव्यविदां कविकर्म्ममर्म्मविदाम्, ओजःप्रसादादीनां गुणा इति, यमकोपमादीनामलङ्कारा इति च विभिन्नव्यवहारविषयत्वं व्यवस्थितमित्यर्थः ।

( ग ) प्रश्नपूर्व्वकमुत्तरसूत्रं प्रसञ्जयति, तेषामिति ।—तेषां गुणालङ्काराणां, भेदस्य किं निबन्धनं कारणमिति प्रश्नः ।

---

* "कैवल्येन" इत्यत्र "कैवल्ये" इति पाठान्तरम् ।

तेषाम् अकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजःप्रसादादीनान्तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति। ( घ )

## तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ॥ २ ॥

तस्याः काव्यशोभाया अतिशयः तदतिशयः, तस्य हेतवः। तुशब्दो व्यतिरेके। अलङ्काराश्च यमकोपमादयः। ( ङ )

अत्र श्लोकौ, ( च )—

"युवतेरिव रूपमङ्ग ! काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः" ॥ १ ॥

"यदि भवति वचश्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते" ॥ २ ॥

---

( घ ) व्याचष्टे, ये खल्विति।—गुणा वस्तुतो रीतिनिष्ठा अपि उपचाराच्छब्दधर्मा इत्युक्तम्। एतच्च गुणोद्देशसूत्रे कुशलमुपपादयिष्यामः। गुणशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमयोगान्ययोगव्यवच्छेदाभ्यां परिच्छेत्तुं प्रक्रमते—ते चेति। अन्ययोगव्यवच्छेदं तावदाख्याति, कैवल्येनेति।—तेषामलङ्काराणां, कैवल्येन गुणसाहचर्याभावेन, काव्यशोभाकलनाच्चमत्वादित्यर्थः। अयोगं व्यवच्छिनत्ति, ओजःप्रसादादीनाम्विति।—कैवलानाम् अलङ्कारासहचरितानाम्, अस्त्येवेति सम्बन्धः।

( ङ ) अलङ्कारपदप्रवृत्तिनिमित्तमावेदयितुमाह—तदतिशयहेतव इति। जड़बुद्धिषु जातानुग्रहो विग्रहमाह—तस्या इति। तुशब्द इति।—व्यतिरेको भेदः। ("तुः स्याद्भेदेऽवधारणे" इत्यमरः)।

( च ) असुमेवार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यामभियुक्तसंवादेन द्रढ़यति—अत्र श्लोकाविति।

युवतेरिति।—शुद्धाः अलङ्कारासङ्कलिताः, गुणाः ओजःप्रसादादयो लावण्यादयश्च यस्य तत्, गुणमात्रविशिष्टमपि काव्यं युवते रूपमिव, स्वदते रोचते, रसिकेभ्य इति शेषः। निरन्तराभिः निबिड़ाभिः, अलङ्काराः यमकोपमादयः कटकादयश्च, तेषां विकल्पाः विच्छित्तयः, तेषां कल्पनाभिः रचनाभिः, विहितप्रणयं रचितानुबन्धं, सत् काव्यं युवते रूपमिव अतीवातिशयं स्वदते। इत्यन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह, यदीति।—वचः काव्यात्मकं, गुणेभ्यश्युतं यदि, तदा यौवनवन्ध्य लावण्यशून्यम्, अङ्गनाया

पूर्वे नित्याः ॥ ३ ॥

पूर्वे गुणा नित्याः, तैर्विना काव्यशोभाऽनुपपत्तेः। (छ)

एवं गुणालङ्काराणां भेदं दर्शयित्वा शब्दगुणनिरूपणार्थमाह, (ज)—

ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्य्यसौकुमार्य्योदारताऽर्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः ॥ ४ ॥

बन्धः पदरचना, तस्य गुणाः बन्धगुणाः ओजःप्रभृतयः। (झ)

---

वपुरिव भवति, तदा जनदयितान्यपि लोकप्रियाण्यपि, अलङ्करणानि नियतमवश्यं, दुर्भगत्वं सौन्दर्य्यवैधुर्य्यादनादरणीयत्वं, संश्रयन्ते इति श्लोकद्वयार्थः ॥ १—२ ॥

(छ) "विरुद्धधर्म्माध्यासो भावं भिन्द्यात्" इति न्यायेन नित्यत्वानित्यत्वाभ्यामपि गुणालङ्कारभेदः सिद्ध इति दर्शयितुमाह, पूर्वे नित्या इति।—पूर्वे गुणा नित्या इत्युक्ते अन्ये पुनरलङ्कारा अनित्या इति गम्यते एव। गुणानां नित्यत्वे हेतुः, तैर्विनेति।—गुणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् काव्यशोभाया इत्यर्थः।

(ज) एवमभेदमतं खण्डितम्। अथोक्तानुवादपूर्वकमुद्देशसूत्रमुदीरयति—एवमिति। शब्दगुणेति।—शब्दनिष्ठा गुणाः शब्दगुणाः; वस्तुतो रीतिधर्म्मत्वेऽपि गुणानामात्मलाभस्य शब्दार्थाधीनत्वात् तस्य निरूप्यत्वाच्च शब्दार्थधर्म्मत्वमुपचारादुक्तम्।

(झ) अथेदानीं मुख्यया वृत्त्या रीतिधर्म्मत्वमिति आत्मसिद्धान्तमाविष्कुर्वन् सूत्रं पदं व्याकरोति, बन्धः पदरचना, तस्य गुणा इति।—न तु शब्दार्थयोरिति शेषः। एवञ्च सति उपक्रमोपसंहारलिङ्गैराचार्य्यतात्पर्य्यपर्य्यालोचनायामात्मभूतरीतिनिष्ठा गुणाः, तच्छरीरभूतशब्दार्थनिष्ठाः पुनरलङ्कारा इति निश्चीयते; अतो मन्यामहे—गुणत्वादीजःप्रभृतीनामात्मनि समवायवृत्त्या स्थितिः, अलङ्कारत्वात् यमकोपमादीनां शरीरे संयोगवृत्त्या स्थितिरिति ग्रन्थकारस्याभिमतम् इति। न ह्यविपश्चिदपि कश्चिदभिजानीयादभिवदेद्वा, गुणानामात्मनि रीताविव, अलङ्काराणां शरीरभूते शब्दार्थयुगले समवायवृत्त्या स्थितिरिति। एवञ्च गुणालङ्काराणामुभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरित्यभिमन्यमानैः, "भेदाभिधानं गरुरिकाप्रवाहन्यायेन" इति यदुक्तं, तन्निरस्तम्। किञ्च, "रीतिरात्मा काव्यस्य" (१ अधि० २ अ०

६ सू०) इति शब्दार्थयुगलकाव्यशरीरस्य रीतिमात्मानमुपपाद्य, "विशिष्टा पदरचना रीतिः" (१ अधि० २ अ० ७ सू०) इति रीतिं लक्षयित्वा, "विशेषो गुणात्मा" (१ अधि० २ अ० ८ सू०) इति गुणमात्रस्यैवात्मभूतरीतिनिष्ठत्वे प्रतिष्ठापिते यमकोपमादीनामलङ्काराणां तच्छरीरभूतशब्दार्थनिष्ठत्वमर्थात् समर्थितं भवति। अत एवौजःप्रसादादीनां गुणत्वं यमकोपमादीनामलङ्कारत्वमिति च व्यपदेशभेदोऽप्युपपद्यते। एवञ्च सति "पूर्वे नित्याः" (३ अधि० १ अ० ३ सू०) इति सूत्रे गुणानां नित्यत्वम् अलङ्काराणाम् अनित्यत्वमासूचयता सूत्रकृता गुणानां काव्यव्यवहारप्रयोजकत्वमुक्तं भवति। यथा च परमते व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये ध्वनिरुत्तमं काव्यं, गुणभावे गुणीभूतव्यङ्ग्यं मध्यमं काव्यं, सम्भावनाभावे चित्रमवरं काव्यमिति काव्यभेदाः कथिताः; तथाऽत्रापि गुणसामग्र्या वैदर्भी, अविरोधिगुणान्तरानिरोधेन ओजःकान्तिभूयिष्ठत्वे गौड़ीया, माधुर्य्यसौकुमार्य्यप्राचुर्ये पाञ्चालीति काव्यभेदाः कथ्यन्ते। रीतिध्वनिवादमतयोरियांस्तु भेदः,—तत्र प्रथमे रीतिरात्मा काव्यस्य; तद्व्यवहारप्रयोजका गुणाः, चरमे तु ध्वनिरात्मा, स एव तद्व्यवहारप्रयोजक इति। उभयवाप्यात्मनिष्ठा गुणाः, शब्दार्थयुगलं शरीरं, तन्निष्ठा अलङ्कारा इति च सर्व्वमविशिष्टम्। ततश्च "किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहारः? उत कतिपयैः? यदि समस्तैस्तत्, कथमसमस्तगुणा गौड़ीया पाञ्चाली वा रीतिः काव्यस्यात्मा। अथ कतिपयैः, 'अद्रावेव प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः' इत्यादावोजःप्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः? 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनि!। अस्या रदच्छदरसो न्यक्करीतितरां सुधाम्॥' इत्यादौ गुणैरपेक्ष्येण विशेषोक्तिव्यतिरेकालङ्कारयोरेव काव्यव्यवहारप्रयोजकत्वञ्च दृश्यते" इति स्वसङ्कल्पमात्रकल्पितविकल्पानां नावश्यमवकाशं पश्यामः। अथापि यदि पाण्डित्यकण्डूलवैतण्डिकचण्डिम्ना चित्खण्डयिषा परस्य, तर्हि स्वमतं पृष्टः स्वयमेवाचष्टाम्;—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" इति काव्यसामान्यलक्षणे शब्दार्थयोर्गुणसाहित्यमिष्यते। "काव्यस्यात्मा रसः" इति चोच्यते। तत्र किं गुणसमष्टिविशिष्टं काव्यम्? तद्व्यष्टिविशिष्टं वा? नाद्यो निरवद्यः, एकैकगुणोदाहरणेषु काव्यत्वाभावप्रसङ्गात् गुणसमष्टिवैशिष्ट्याभावात्। न द्वितीयः, वस्त्वलङ्कारध्वनिषु गुणिनो रसस्याभावेन गुणस्यैवाभावात्। किञ्च, किं सर्वे रसाः समूय काव्यात्मीभवन्ति? उत एको रसः? आद्ये न कुत्रापि काव्यात्मसम्भावना, विरोधिरसानामेकाधिकरण्यासम्भवात्। द्वितीये वस्त्वलङ्कारध्वनिषु रसासम्भवात् आत्मविधुरेषु काव्यव्यवहाराभावप्रसङ्ग इत्यलं परमतदोषोद्घाटनपाटवप्रकटनेन। प्रकृतमनुसरामः।

तान् क्रमेण दर्शयितुमाह, ( ञ )—

**गाढ़बन्धत्वमोजः ॥ ५ ॥**

बन्धस्य गाढ़त्वं यत्, तत् ओजः । ( ट )

यथा, ( ठ )—"विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्त्तयन्ति" ॥ ३ ॥

न पुनः,—"विलुलितमधुधारा मञ्जरीर्लोलयन्ति" ॥ ४ ॥

**शैथिल्यं प्रसादः ॥ ६ ॥**

बन्धस्य शैथिल्यं शिथिलत्वं प्रसादः । ( ड )

ननु अयम् ओजोविपर्य्ययात्मा दोषः, तत्कथं गुणः ? इत्यत आह, ( ढ )—

**गुणः, संभवात् ॥ ७ ॥**

गुणः प्रसादः, ओजसा सह संभवात् । ( ण )

**न शुद्धः ॥ ८ ॥ ***

---

( ञ ) उद्देशक्रमादमीषां गुणानामसाधारणधर्मानाख्यातुमारभते—तान् क्रमेणेति ।

( ट ) बन्धस्य पदरचनायाः गाढ़त्वं कनकशलाकावयवघटनवन्निविड़त्वम् । तच्च हेतवः,—संयुक्ताक्षरत्वं, निरन्तरैरेफशिरस्कैर्वर्गाणां प्रथमद्वितीयैस्तृतीयचतुर्थैः प्रथमैस्तृतीयैश्च संयोगाः, विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः, गुर्वन्तता, समासाश्च, इत्येवमादयस्तरतमभावेनावस्थिताः ।

( ठ ) तत्रोदाहरणप्रत्युदाहरणे दर्शयति—यथेति ।

विलुलितेति ।—उभयत्र गाढ़त्वशैथिल्ये स्फुटे ॥ ३—४ ॥

( ड ) शैथिल्यमिति ।—अस्य वृत्तिः स्पष्टार्था ।

( ढ ) शिथिलत्वमोजोगुणविपर्य्ययरूपम् । तदात्मकत्वे प्रसादस्य दोषत्वमेव स्यादिति परशङ्कां प्रस्तुत्य तां परावर्त्तुमनन्तरसूत्रमवतारयति—नन्विति ।

( ण ) संभवो मेलनम् । प्रसादो गुणो भवत्येव, ओजसा गुणेन सह संभवात् ।

---

* "न शुद्धः" इति सूत्रन्तु क्वचित् पुस्तके न दृश्यते ।

स शुङस्तु दोष एवेति। (त)

ननु विरुद्धयोः ओजःप्रसादयोः कथं संभवः? इत्याह, (थ)—

**स त्वनुभवसिद्धः ॥ ९ ॥**

स तु संभवस्तु अनुभवसिद्धः तद्दिदं रत्नादिविशेषवत्। (द)

अत्र श्लोकः,—

"करुणप्रेक्षणीयेषु संभवः सुखदुःखयोः।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवौजःप्रसादयोः" ॥ ५ ॥

**साम्योत्कर्षौ च ॥ १० ॥**

साम्यमुत्कर्षश्च ओजःप्रसादयोः अनुभवादेव। (ध)

साम्यं यथा, (न)—

"अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्" ॥ ६ ॥

क्वचिदोजः प्रसादात् उत्कृष्टम्। यथा,—

---

(त) तदसिद्धन्तु शैथिल्यं दोष एवेत्याह—स शुङ्स्विति।

(थ) ननु गाढत्वशैथिल्ययोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः संभव एव न सम्भवतीति शङ्कामनूद्यानन्तरसूत्रेणापवदितुमाह—नन्विति।

(द) व्याचष्टे, स तु संभव इति।—रत्नविशेषवत् परीक्षानुभवसाक्षिक इत्यर्थः।

विरुद्धयोरपि क्वचित् संभवः सम्भवतीत्यभियुक्तोक्तिमभिदर्शयति, करुणेति।—यानि करुणानि कारुण्यावहानि यानि मनोज्ञानि च वस्तूनि, तेषु युगपदनुभूयमानेषु समसमयसमुत्पन्नयोः सुखदुःखयोः संभवो यथा अनुभवतः स्वसंवेदनात् सिद्धः, तथा ओजःप्रसादयोरपि संभवः स्वसंवित्संवेद्यतया सिद्ध इति श्लोकार्थः॥ ५ ॥

(ध) अत्र ओजःप्रसादयोः साम्ये पर्य्यायतः प्रकर्षे च प्रसादस्त्रिप्रकारो भवति। ते च प्रकारा अप्यनुभवगम्या इति दर्शयितुमाह—साम्योत्कर्षौ चेति।

(न) क्रमेण त्रिविधं प्रसादमुदाहृत्य दर्शयति—साम्यं यथेति।

अथेति।—"विषयव्यावृत्तात्मा—" इत्यादावोजः, "यथाविधि सूनवे" इत्यादौ प्रसादः। भिन्नदेशयोरप्योजःप्रसादयोः परस्परच्छायानुकारितया संभवः। उभयोरत्र साम्यं वेदितव्यम्॥ ६ ॥

"व्रजति गगनं भल्लातक्याः फलेन सहोपमाम्" ॥ ७ ॥

क्वचित् ओजसः प्रसादस्य उत्कर्षः। यथा,—

"कुसुमशयनं न प्रत्ययं न चन्द्रमरीचयो
न च मलयजं सर्वाङ्गीणं न वा मणियष्टयः" ॥ ८ ॥

## मसृणत्वं श्लेषः ॥ ११ ॥

मसृणत्वं नाम तत्, यस्मिन् सति बह्वनि अपि पदानि एकवद्भासन्ते। (प) यथा,—

"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः" ॥ ९ ॥

न पुनः,—

"सूनं ब्राह्मसुरःस्थले—" "भ्रमरीवल्गुगीतयः" "तडिल्लिलमाकाशम्" इति। (फ)

एवन्तु श्लेषो भवति,—

"ब्राह्मं सूनसुरःस्थले" "भ्रमरीसङ्गुगीतयः" "तडिज्जटिलमाकाशम्" इति। (ब)

## मार्गभेदः समता ॥ १२ ॥

मार्गस्य अभेदो मार्गभेदः समता। येन मार्गेण उप-

---

ओजसः प्रसादादुत्कर्षमुदाहरति, व्रजतीति।—भल्लातकी नाम वीरवृक्षः। ("वीरवृक्षोऽरुष्करोऽग्निमुखी भल्लातकी त्रिषु" इत्यमरः) ॥ ७ ॥

कुसुमेति।—"कुसुमशयनम्" इत्यत्र प्रसादस्योत्कर्षो द्रष्टव्यः ॥ ८ ॥

(प) श्लेषं विशदयितुमाह—मसृणत्वं श्लेष इति। मसृणत्वं विशिष्य दर्शयति, यस्मिन्निति।—यत्र हि व्यासेऽपि समासवदवभासः स श्लेषः।

(फ) "अस्त्युत्तरस्याम्" इति सामान्येनोदाहरणमुक्त्वा श्लेषस्य व्यतिरेकमुखेनान्वयमाविष्करोति, न पुनरिति।—"सूनं ब्राह्मसुरःस्थले" "भ्रमरीवल्गुगीतयः" "तडिल्लिलमाकाशम्" इत्यत्र श्लेषः पुनर्नास्तीति सम्बन्धः। सूनं ब्राह्मसुरःस्थलेत्यत्र परस्परवर्णोऽपि परुषाक्षरोल्लासान्न श्लेषः।

(ब) तर्हि कीदृशि विन्यासे श्लेषो भवति? इत्यत आह, एवन्त्विति।—अस्य गुणस्य विपर्ययो विसन्धेर्वाक्यदोषस्य विश्लेषात्मा भेदः।

क्रमः, तस्य अत्याग इत्यर्थः। श्लोके प्रबन्धे चेति। पूर्वोक्तम् उदाहरणम्। ( भ )

विपर्य्ययस्तु यथा, ( म )—

"प्रसीद चण्डि ! त्यज मन्युमञ्जसा जनस्तवार्यं पुरतः कृताञ्जलिः।
किमर्थमुत्कम्पितपीवरस्तनद्वयं त्वया सुप्तविलासमास्यते" ॥ १० ॥

## आरोहावरोहक्रमः समाधिः ॥ १३ ॥

आरोहावरोहयोः क्रमः आरोहावरोहक्रमः, समाधिः परिहारः। आरोहस्यावरोहे सति परिहारः, अवरोहस्य वा आरोहे सति इति। ( य )

तत्र आरोहपूर्वकोऽवरोहो यथा, ( र )—

"निरानन्दः कौन्दे मधुनि परिभुक्तोज्झितरसे" ॥ ११ ॥

अवरोहपूर्वकस्तु आरोहो यथा, ( ल )—

---

( भ ) समतां समाख्यातुमाह, मार्गभेद इति।—आदिमध्यावसानेष्वेकरूपं समतेत्यर्थः। तस्या विषयं दर्शयति—श्लोके प्रबन्धे चेति। किमत्रोदाहरणमिति चेदाह, पूर्वोक्तमिति।—अस्युत्तरस्यामित्यादि।

( म ) प्रत्युदाहरणमाह—विपर्य्ययस्त्विति।

प्रसीदेति।—प्रसीद त्यजेति कर्त्तृवाचितया प्रक्रान्तस्य मार्गस्य आस्यते इत्यत्र त्यागान्न समता ॥ १० ॥

( य ) पञ्चमं गुणं प्रपञ्चयितुमाह—आरोहावरोहक्रम इति। अत्र स्वाभिमतं तावदेकमर्थं लक्षणवाक्यस्य समर्थयते, समाधिः परिहार इति।—अवरोहे प्रवर्त्तमाने सत्यारोहस्य प्रवृत्तस्य परिहारः परित्यागः; आरोहे च सत्यवरोहस्य परिहारः; आरोहावरोहयोर्विरुद्धत्वेन यौगपद्यासम्भवादिति भावः। दीर्घादिगुर्वक्षरप्राचुर्ये आरोहः, लघ्वादिशिथिलप्रायत्वे चावरोह इति द्रष्टव्यम्। तथा च आरोहपूर्वकोऽवरोहः, क्वचिदवरोहपूर्वक आरोह इति समाधेर्द्वैविध्यमुक्तं भवति।

( र ) तत्राद्यमुदाहरति—तत्र आरोहपूर्वक इति।

निरानन्द इति।—"निरानन्दः कौन्दे" इत्यत्र गुर्वक्षरबाहुल्यादारोहः; "मधुनि" इत्यत्र लघ्वक्षरप्राचुर्यादवरोहः ॥ ११ ॥

( ल ) द्वितीयमुदाहरति—अवरोहपूर्वक इति।

नराः शीलभ्रष्टा व्यसन इव सज्जन्ति तरवः" ॥ १२ ॥

आरोहस्य क्रमोऽवरोहस्य च क्रम आरोहावरोहक्रमः, क्रमेण आरोहणम् अवरोहणञ्च इति केचित्। ( व ) यथा,—

"निवेशः स्वःसिन्धोस्तुहिनगिरिवीथीषु जयति" ॥ १३ ॥

**न पृथक्, आरोहावरोहयोरोजःप्रसादरूपत्वात् ॥ १४ ॥**

न पृथक् समाधिर्गुणः, आरोहावरोहयोः ओजःप्रसादरूपत्वात्। ओजोरूपञ्च आरोहः, प्रसादरूपञ्च अवरोह इति। ( श )

**नासम्पृक्तत्वात् ॥ १५ ॥ ***

यदुक्तम् ओजःप्रसादरूपत्वम् आरोहावरोहयोः, तन्न; असम्पृक्तत्वात्। † सम्पृक्तौ खलु ओजःप्रसादौ नदीवेणिकावत् वहतः। ( ष )

---

नरा इति।—"नराः" इत्यत्र शैथिल्यादवरोहः; "शीलभ्रष्टाः" इत्यत्र गुर्व्वक्षरप्रचुरत्वादारोहः ॥ १२ ॥

( व ) अस्यैव लक्षणवाक्यस्यान्यैरभिहितमर्थमभ्यनुजिज्ञासुरनुवदति, आरोहस्य क्रम इति।—निःश्रेणिकाऽऽरोहावरोहन्यायेन क्रमेणारोहणं, क्रमेण चावरोहणमिति लक्षणवाक्यार्थः।

उदाहरति, निवेश इति।—"निवेशः स्वःसिन्धोः" इत्यत्र निःश्रेणिकाक्रमेणाऽऽरोहः, "तुहिनगिरि—" इत्यत्रावरोहः ॥ १३ ॥

( श ) ननु लक्षणवाक्यार्थपर्य्यालोचनया समाधेरोजःप्रसादानतिरेकान्न पृथक्त्वमिति शङ्कामङ्कुरयितुमुत्तरसूत्रमुपक्षिपति—न पृथगिति। व्याचष्टे—न पृथक् समाधिरिति।

( ष ) आरोहावरोहावोजःप्रसादरूपौ न भवतः, असम्पृक्तत्वात्। अतः परस्वरच्छायानुकारितया सम्पृक्तयोरोजःप्रसादयोर्न समाधिरन्तर्भवतीत्यभिसन्धाय सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—यदुक्तमिति। सम्पृक्तत्वं सदृष्टान्तमुपपादयति, सम्पृक्तौ

---

* "नासम्पृक्तत्वात्" इत्यत्र "न, सम्पृक्तत्वात्" इति पाठान्तरम्।

† "असम्पृक्तत्वात्" इत्यत्र "सम्पृक्तत्वात्" इति पुस्तकान्तरधृतपाठः।

**अनैकान्त्याच्च ॥ १६ ॥**

न चायमेकान्तः * यत् ओजसि आरोहः, प्रसादे चावरोह इति। ( स )

**ओजःप्रसादयोः तीव्रावस्था † ताविति चेदभ्युपगमः ॥ १७ ॥**

ओजःप्रसादयोः क्वचित् तीव्रावस्था। सा च आरोहावरोहाऽऽख्या ‡ इत्येवं चेत् मन्यसे, अभ्युपगमः न विप्रतिपत्तिः। ( ह )

---

खल्विति।—सम्पृक्तसरिद्वयसलिलन्यायेन सम्पृक्तावोजःप्रसादाविति तल्लिङ्गयोरारोहावरोहयोः सम्पृक्तत्वव्यतिरेकादसम्पृक्तत्वहेतोरसिद्धिरुद्भूता।

( स ) ननु न केवलं नदीद्वयवैशेषिकान्यायेनौजःप्रसादयोः साम्येनावस्थितिः, किन्तु "साम्योत्कर्षौ च" ( ३ अधि० १ अ० १० सू० ) इत्युक्तत्वात् समुद्गकस्थमणिप्रभासमूहन्यायादुद्भावचभावेन स्थितिः। तस्मिन् पक्षे कथमयं समाधिः पृथग्गुण इति शङ्कामपनेतुमाह, अनैकान्त्याच्चेति।—ओजःप्रसादयोरारोहावरोहसाहचर्यनियमो न सम्भवति, व्यभिचारात्; व्यभिचारस्तु,—"उद्गच्छदच्छसुभगच्छविगुच्छकच्छम्" इत्यादौ, "यतो यतो निवर्त्तते ततस्ततो विमुच्यते" इत्यादौ च आरोहशून्यस्यौजसः, अवरोहशून्यस्य प्रसादस्य च स्थितत्वादित्यभिप्रायः।

( ह ) नन्वारोहावरोहावोजःप्रसादयोरवस्थाविशेषौ स्याताम्; अतो न पृथक् समाधिरिति यदि चोद्येत, तर्हि समाधेर्दर्त्तो हस्तावलम्ब इति दर्शयितुमनन्तरसूत्रमवतारयति—ओजःप्रसादयोस्तीव्रावस्था ताविति। शङ्कांशं सङ्कलय्य दर्शयति—ओजःप्रसादयोः क्वचिदिति। सा चेति।—सा च तीव्रावस्था। आरोहावरोहाख्येति।—कारणे कार्य्यत्वमुपचर्य्योक्तम्; यदक्ष्यति—"विशेषापेक्षित्वात्" ( ३ अधि० १ अ० १८ सू० ) इति, "आरोहावरोहनिमित्तम्" ( ३ अधि० १ अ० १९ सू० )

---

* "न चायमेकान्तः" इत्यत्र "न चायमेकान्तः नियमः" इति पाठान्तरम्।

† "ओजःप्रसादयोः क्वचिद्भागे तीव्रावस्थायाम्" इति पाठः क्वचित्।

‡ "ओजःप्रसादयोः क्वचिद्भागे तीव्रावस्थायाम् आरोहोऽवरोहश्च" इति पुस्तकान्तरीयः पाठः।

विशेषापेक्षित्वात्तयोः ॥ १८ ॥

स विशेषो गुणान्तरात्मा । ( क ) *

आरोहावरोहनिमित्तं समाधिराख्यायते ॥ १९ ॥

आरोहावरोहक्रमः समाधिरिति गौण्या वृत्त्या व्याख्येयम् । ( ख )

क्रमविधानार्थत्वाद्वा ॥ २० ॥ †

पृथक्करणमिति । पाठधर्म्मत्वं ‡ च न सम्भवति इति "न पाठधर्म्माः सर्वत्रादृष्टेः" ( ३ अधि० १ अध्या० २८ सू० ) इत्यत्र वक्ष्यामः । ( ग )

---

इति च । अनुपचारे तु "विशेषरूपत्वात्" इति, "आरोहावरोहौ" इति च ब्रूयात् । ओजःप्रसादयोस्तीव्रावस्था आरोहावरोहयोः कारणमित्यर्थः । अनिष्टमापादयन् भवानभीष्टमेवाचष्टे इत्याह—अभ्युपगम इति ।

( क ) परोक्तस्याभ्युपगमे पर्य्यवसितमर्थं समर्थयितुमाह, विशेषेति ।—विशेषः तीव्रावस्थात्मा, तमपेक्षितुं शीलमनयोरिति विशेषापेक्षिणौ तयोर्भावस्तत्त्वं तस्मात् । आरोहावरोहाभ्यां ओजःप्रसादयोस्तीव्रावस्था हि स्वनिमित्तत्वेनापेक्षिता । सोऽयमोजःप्रसादव्यतिरेकेण समाधिरन्यो गुण इति सूत्रार्थः ।

( ख ) नन्वसमर्थमभिधातुं समाधिलक्षणवाक्यं न क्षमते इत्याशङ्क्य गौणवृत्तिराश्रयणीयेत्याह, आरोहावरोहेति ।—क्रमपदेन तन्निमित्तं लक्ष्यते इत्यर्थः ।

( ग ) ननु अवस्था पुनरवस्थावती यदा न भिद्यते, तदा तीव्रावस्था ओजःप्रसादात्मिकैव भवति । यद्यपि यद्यत् ओजः, तत्तत् आरोह इति नास्ति नियमः, तथाऽपि यो य आरोहः, तत्तत् ओज इति भवति ; ततः सत्यं न समाधिना प्रसादः स्वीक्रियते, प्रसादेन च समाधिः सङ्कृष्यते एवेति किमर्थमस्योपादानमित्यत आह, क्रमविधानार्थत्वात् वेति ।—नात्र क्रमः परस्परम् ; अपि तु क्रमेणारोहणं क्रमेणाव-

---

* "गुणान्तरात्मा" इत्यत्र "गुणान्तरमेव" इति क्वाचित्कः पाठः ।

† "क्रमविधानार्थं वा" इति पाठभेदः ।

‡ "पाठधर्म्मश्च" इति कुत्रचित् पाठः ।

## पृथक्पदत्वं माधुर्य्यम् ॥ २१ ॥

बन्धस्य पृथक् पदत्वं यत् तत् माधुर्य्यम्। पृथक् पदानि यस्य स पृथक्पदः तस्य भावः पृथक्पदत्वम्। समासदैर्घ्य-विनिवृत्तिपरश्च एतत्। पूर्वोक्तम् उदाहरणम्। ( घ )

विपर्य्ययस्तु यथा, ( ङ )—

"चलितशबरसैनादत्तगोघ्नङ्गचण्डध्वनिचकितवराहव्याकुला विन्ध्यप्रादाः" ॥ १४ ॥

## अजरठत्वं सौकुमार्य्यम् ॥ २२ ॥

बन्धस्याजरठत्वम् अपारुष्यं यत् तत् सौकुमार्य्यम्। पूर्वोक्तम् उदाहरणम्। ( च )

विपर्य्ययस्तु यथा, ( छ )—

"निदानं निर्दैतं प्रियजनसङ्गत्यवसितिः
सुधासिक्तश्लोषौ फलमपि विरुद्धं मम हृदि" ॥ १५ ॥

## विकटत्वमुदारता ॥ २३ ॥

बन्धस्य विकटत्वं यत्, असौ उदारता। यस्मिन् सति

---

रोहणमित्येवंरूपः क्रमो ज्ञेयः। नन्वारोहावरोहक्रमः पाठधर्मः किं न स्यादिति चोद्यं वक्ष्यमाणयुक्त्या विघटितमित्याह—पाठधर्म्मत्वञ्चेति।

( घ ) माधुर्य्यमवधारयितुमाह—पृथक्पदत्वमिति। सूत्रार्थं विविङ्क्ते—बन्धस्येति। अव्याप्तिं परिहरति—समासदैर्घ्यविनिवृत्तिपरमिति। पूर्वोक्तमिति।—"अस्त्युत्तरस्याम्" इत्यादुदाहरणम्।

( ङ ) प्रत्युदाहरणमाह, विपर्य्ययस्त्विति।—समासपददैर्घ्यात् विपर्य्ययः।

चलितेति।—दत्तं धृतम् ॥ १४ ॥

( च ) सौकुमार्य्यं पर्य्यालोचयितुमाह—अजरठत्वं सौकुमार्य्यमिति। बन्धस्य अजरठत्वं कोमलत्वं, श्रुतिसुखत्वमिति यावत्। पूर्वोक्तमिति।—"अस्त्युत्तरस्याम्" इत्यादुदाहरणम्।

( छ ) प्रत्युदाहरणमाह, विपर्य्ययस्त्विति।—सौकुमार्य्यस्य विपर्य्ययः कष्टत्वमिश्रवृत्तत्वे।

निदानमिति।—निर्दैतं संशयाभावः। अत्र निर्दैतमिति कष्टम् ॥ १५ ॥

नृत्यन्तीव पदानि इति जनस्य वर्णभावना भवति, तत् विकटत्वं लीलायमानत्वमित्यर्थः। ( ज )

यथा, ( झ )—

"खचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त्तकीनां झटिति * रणितमासीत् तत्र चित्रं कलञ्च" ॥१६॥

न पुनः,—

"चरणकमललग्नैर्नूपुरैर्नर्त्तकीनां झटिति रणितमासीन्मञ्जु चित्रञ्च तत्र" ॥ १७ ॥

## अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः ॥ २४ ॥

यत्र झटिति अर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं, स गुणोऽर्थव्यक्तिरिति। पूर्वोक्तम उदाहरणम्। प्रत्युदाहरणन्तु भूयः सुलभञ्च। ( ञ )

## औज्ज्वल्यं कान्तिः ॥ २५ ॥

बन्धस्य उज्ज्वलत्वं नाम यत्, असौ कान्तिरिति; यदभावे पुराणच्छाया इति उच्यते। ( ट ) यथा,—

"कुरङ्गीनेत्रालीस्तवकितवनालीपरिसरः" ॥ १८ ॥

विपर्य्ययस्तु भूयान् सुलभश्च।

---

( ज ) उदारतामुदीरयितुमाह, विकटत्वमिति।—क्रमशो वर्त्तमानाचरपदत्वं, पदप्रथमाद्यक्षराणां पदान्तरप्रथमाद्यक्षरैः सादृश्यञ्च।

( झ ) उदाहरणप्रत्युदाहरणे दर्शयति—यथेति।

( ञ ) अर्थव्यक्तिं समर्थयितुमाह—अर्थव्यक्तीति। वृत्तिः स्पष्टार्था। पूर्वोक्तम् "अस्युत्तरस्याम्" इति। सुलभञ्चेति।—"सपदि पङ्क्तिविहङ्गमनाम" इत्यादि। अव्यवहितान्वयप्रसिद्ध्यर्थपदत्वे हि भवत्यर्थव्यक्तिः। अस्य च विपर्य्ययः,—असाधुप्रतीतानर्थकान्यार्थनेयार्थगूढार्थयतिभ्रष्टक्लिष्टसन्दिग्धायुक्तानि। असाधुत्वे हि भवति नार्थव्यक्तिः, यत्र च भवति, तत्र "असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते" इत्युक्तत्वादसाधुशब्दः साधुशब्दानुसानद्वारेणार्थबोधक इति नार्थव्यक्तिः। पूरणार्थमव्ययञ्च कस्मादस्य प्रयोग इति सन्देहावहत्वादर्थव्यक्तिं व्यवदधाति। यतिभ्रंशे च अर्थव्यक्तिहतिः। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्।

( ट ) कान्तिं कथयितुमाह, औज्ज्वल्यमिति।—पदमिति वक्तव्ये किसलय-

---

* "झणिति" इति पाठान्तरम्।

श्लोकाश्च अत्र भवन्ति—

"पदन्यासस्य गाढ़त्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः।
अनेनाधिष्ठिताः प्रायः शब्दाः श्रीचरसायनम् ॥ १९ ॥
श्लथत्वमोजसा मिश्रं प्रसादश्च प्रचक्षते।
अनेन न विना सत्यं स्वदते काव्यपद्धतिः ॥ २० ॥
यत्रैकपदवद्भावः पदानां भूयसामपि।
अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः ॥ २१ ॥
प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः।
दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति मतो गुणः ॥ २२ ॥
आरोहन्त्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो हि यत्।
समाधिर्नाम स गुणस्तेन पूता सरस्वती ॥ २३ ॥
बन्धे पृथक्पदत्वञ्च माधुर्य्यमुदितं बुधैः।
अनेन हि पदन्यासाः कामं धारामधुस्रुतः ॥ २४ ॥
यथा हि लिख्यते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः।
तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता ॥ २५ ॥
बन्धस्याजरठत्वञ्च सौकुमार्य्यमुदाहृतम्।
एतेन वर्जिता वाचो रूक्षत्वान्न श्रुतिक्षमाः ॥ २६ ॥
विकटत्वञ्च बन्धस्य कथयन्ति ह्युदारताम्।
वैचित्र्यं न प्रपद्यन्ते यथा शून्याः पदक्रमाः ॥ २७ ॥
पश्चादिव गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुनः।
यत्रार्थव्यक्तिहेतुत्वात् सोऽर्थव्यक्तिः स्मृतो गुणः ॥ २८ ॥
औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः।
पुराणचित्रस्थानीयं तेन बन्ध्यं कवेर्वचः" ॥ २९ ॥

## नासन्तः, संवेद्यत्वात् ॥ २६ ॥

मित्यादि, जलधाविति वक्तव्ये अधिजलधीति, राज्ञीति वक्तव्ये राजनीति, कमलमिवेति वक्तव्ये कमलायते इत्यादिः कान्तिहेतुः। विपर्य्ययस्य विषयं दर्शयति—यदभावे इति।

अत्र संवादं सन्दर्शयन्, अमून् गुणान् अन्यश्लोकैरुपश्लोकयति, पदन्यासस्येत्यादि। —श्लोकाः स्पष्टार्थाः ॥ १९—२९ ॥

न खलु एते गुणा असन्तः, संवेद्यत्वात्। * (ठ)

तर्हिदं संवेद्यत्वेऽपि † भ्रान्ताः स्युः इत्याह,—

**न भ्रान्ताः, निष्कम्पत्वात् ॥ २७ ॥**

न गुणा भ्रान्ताः, एतद्विषयायाः प्रवृत्तेर्निष्कम्पत्वात्। (ड)

**न पाठधर्माः, सर्वत्रादृष्टेः ॥ २८ ॥**

न एते गुणाः पाठधर्माः, सर्वत्र अदृष्टेः। यदि पाठधर्माः स्युः, तर्हि विशेषानपेक्षाः सन्तः सर्वत्र दृश्येरन्। न च सर्वत्र दृश्यन्ते। विशेषापेक्षया विशेषाणां गुणत्वात् गुणाभ्युपगम एव इति। (ढ)

इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ गुणविवेचने तृतीयेऽधिकरणे गुणालङ्कारविवेकः शब्दगुणविवेकश्च नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

(ठ) नन्वेते गुणाः स्वसङ्कल्पनामात्रसाराः, रूपरसादिवदपरीक्षतया अधिगन्तुमशक्यत्वादिति शङ्कामुद्भावयितुमाह, नासन्त इति।—अयमर्थः,—ओजःप्रमुखा एते गुणाः, असन्तः तुच्छा न भवन्ति। कुतः? संवेद्यत्वात् सहृदयसंवेदनस्य विषयत्वात्।

(ड) असार्वजनीनत्वादिदं प्रतीतिर्भ्रान्तिरेव किं न स्यादिति शङ्कामङ्कुरयित्वा समुन्मूलयितुमाह, न भ्रान्ता इति।—निष्कम्पत्वात् असार्वजनीनत्वेऽप्यबाधितत्वादित्यर्थः।

(ढ) ओजःप्रमुखा गुणाः पाठधर्मा इति प्रत्यवस्थातारं प्रत्याह—न पाठधर्मा इति। व्याचष्टे—नैते गुणा इति। सर्वत्रैव उदाहरणे प्रत्युदाहरणे च। पाठधर्मत्वे बाधकमाह,—यदि पाठधर्माः स्युरिति।—सहृदयसंविदालम्बनतया विशेषाः कैश्चिदपेक्षणीयाः ते एव विशेषा गुणा इत्यभ्युपगन्तव्या इति।

इति श्रीगोपेन्द्रतिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ गुणविवेचनं नाम तृतीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

* "संवेद्यत्वात्" इत्यत्र "सहृद्यत्वात्" इति सूत्रवृत्त्योरुभयत्रापि पाठान्तरम्।

† "संवेद्यत्वेऽपि" इत्यत्र "सहृद्यत्वेऽपि" इति क्वाचित्कः पाठः।

# द्वितीयोऽध्यायः ।

शब्दगुणविवेके कृते सम्प्रति अर्थगुणविवेचनार्थम् आह, (क)—

**त एवार्थगुणाः ॥ १ ॥**

त एव ओजःप्रभृतयोऽर्थगुणाः ।

शब्दार्थगुणानां वाच्यवाचकद्वारेण भेदं दर्शयति, ( ख )—

**अर्थस्य प्रौढिरोजः ॥ २ ॥**

अर्थस्याभिधेयस्य प्रौढित्वमोजः । ( ग )

"पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढ्यर्थंसमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च" ॥ १ ॥

पदार्थे वाक्यवचनं यथा, ( घ )—

"अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः" ॥ २ ॥

अत्र चन्द्रपदवाच्येऽर्थे "नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेः" इति वाक्यं प्रयुक्तम् । पदसमूहश्च वाक्यमभिप्रेतम् । ( ङ )

---

कारुण्यसम्पदुत्कूललावण्यगुणशालिनीम् ।
स्वच्छस्वच्छन्दवाचालां भावये हृदि भारतीम् ॥ १ ॥

( क ) शब्दगुणविवेचने कृते लब्धावसरमर्थगुणविवेचनमिति सङ्गतिमुल्लिङ्घ्य-न्ननन्तरसूत्रमवतारयति—शब्दगुणविवेके इति ।

( ख ) शब्दगुणा एव चेदर्थगुणाः, किमनेन विधान्तरविधानव्यसनेन, खचितत्वात्तेषामित्याशङ्क्य, शब्दार्थगुणानां नामतो भेदाभावेऽपि शब्दार्थोपश्लेषवशा-दस्ति भेद इत्याह—शब्दार्थेति ।

( ग ) प्रागुद्देशपरिपाट्या प्रथममप्राप्तमोजः प्रतिपादयितुमाह—अर्थस्येति । इतिः स्पष्टार्थः ।

प्रौढिं पद्येन पञ्चधा प्रपञ्चयति—पदार्थे इति ॥ १ ॥

( घ ) तत्राद्यमुदाहरति—पदार्थे इति ।

( ङ ) लक्ष्यलक्षणयोरानुकूल्यमुन्मीलयति—चन्द्रपदेति । "तिङ्सुबन्तचयो

अनया दिशा अन्यदपि द्रष्टव्यम्। ( च ) तद्यथा,—

"पुरः पाण्डुच्छायं तदनु कपिलिम्ना क्वतपदं
ततः पाकोत्सेकादरुणमणि * संसर्गितवपुः।
शनैः शीर्षारम्भे स्थपुटनिजविष्कम्भविषमं
वने वीतामोदं वदरमरसत्वं कलयति" ॥ ३ ॥

न च एवमतिप्रसङ्गः, काव्यशोभाकरत्वस्य गुणसामान्यलक्षणस्य अवस्थितत्वात्। ( छ )

वाक्यार्थे पदाभिधानं यथा, ( ज )—

"दिव्येयं न भवति, किं तर्हि ? † मानुषी" इति वक्तव्ये "निमिषति" इत्याहेति। (झ)

अस्य वाक्यार्थस्य व्याससमासौ। ( ञ )

---

वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता" इत्युक्तलक्षणं वाक्यं न विवक्षितं, किन्तु पदसमुदायमात्रमभिमतमित्याह—पदसमूहस्येति।

( च ) अयं न्यायोऽन्यत्रापि सञ्चारणीय इत्याह—अनयेति।

अन्यदपि दर्शयति, पुरः पाण्डुच्छायमिति।—स्थपुटो निम्नोन्नतः। विष्कम्भ आभोगः। अत्र कपिलमिति वक्तव्ये "कपिलिम्ना क्वतपदम्" इति, शुष्कमिति वक्तव्ये "शनैः शीर्षारम्भे" इत्यादि च वाक्यं प्रयुक्तमिति पदार्थे वाक्यरचना ॥ ३ ॥

( छ ) "दत्तात्मजादयितवल्लभवेदिकासु" इत्यादावतिप्रसङ्गं परिहरति—न चैवमिति। तत्र हेतुः, काव्यशोभाकरत्वस्येति।—तत्र गुणसामान्यलक्षणाभावान्नातिप्रसङ्ग इत्यर्थः।

( ज ) द्वितीयां प्रौढिं द्रढयति— वाक्यार्थे इति।

( झ ) किमियं दैव्युत मानुषीति पृष्टः कश्चिदुत्तरमाह, निमिषतीति।—अनेन मानुषधर्मवाचिना पदेन दैवीयं न भवति, किं तर्हि ? "मानुषी" इति वाक्यार्थः प्रतिपादितो भवति।

( ञ ) पदार्थे वाक्यं, वाक्यार्थे पदमिति प्रौढेर्भेदाभ्यां व्याससमासौ पुनरुक्तौ स्यातामिति न शङ्कनीयम्; तत्र हि पदार्थो वाक्यार्थतां, वाक्यार्थश्च पदार्थतां

---

* "पाकोत्सेकादरुणमणि" इत्यत्र "पाकोत्सेधादरुणगुण" "पाकोत्सेकादरुणगुण" इति च पाठान्तरद्वयम्।

† "किन्तर्हि" इत्यत्र "किन्तु" इति क्वचित् पाठः।

व्यासो यथा,—

"अयं नानाकारो भवति सुखदुःखव्यतिकरः
सुखं वा दुःखं वा न भवति भवत्येव च ततः।
पुनस्तस्मादूर्द्धं भवति सुखदुःखं किमपि तत्
पुनस्तस्मादूर्द्धं भवति न च दुःखं न च सुखम्" ॥ ४ ॥

समासो यथा,—

"ते हिमालयमासन्त्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
स्तिङ्चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः" ॥ ५ ॥

साभिप्रायत्वं यथा, ( ट )—

"सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः" ॥ ६ ॥

आश्रयः कृतधियामित्यस्य च सुवन्धु * साचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्। एतेन, ( ठ )—

"रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः" ॥ ७ ॥

इत्यत्र सुकेश्या इत्यस्य च साभिप्रायत्वं व्याख्यातम्। ( ड )

---

प्रतिपद्यते। इह तु वाक्यार्थस्यैव व्यासो विस्तरः, समासस्य संक्षेपो वाक्येनैवेति भेदादित्याह—अस्य वाक्यार्थस्येति।

व्यासमुदाहरति, अयं नानाकार इति।—अयम् अविसंवादितया अनुभूयमानः, सुखदुःखव्यतिकरः, नानाकारो विचित्ररूपो भवतीति वाक्यार्थः। अस्यैव विस्तरः "सुखं वा दुःखं वा" इत्यादिना कृत इति व्यासः ॥ ४ ॥

समासं समुन्मेषयति, ते हिमालयमिति।—अत्र संक्षेपः स्फुटः ॥ ५ ॥

( ट ) पञ्चमीं प्रौढिं प्रपञ्चयति, साभिप्रायत्वमिति।—पदान्तरप्रयोगमन्तरेण तदर्थप्रत्यायनप्रागल्भ्यं साभिप्रायत्वम्।

( ठ ) लक्ष्यलक्षणयोरानुरूप्यं निरूपयति—आश्रयः कृतधियामिति। एतेनेति।—न्यायेनेति शेषः।

( ड ) सुकेश्या इत्यत्र कवेरभिप्रेतं केशसौष्ठवं कलापिकलापकदर्थनसामर्थ्यं

---

* "इत्यस्य च सुवन्धु" इत्यत्र "इत्यस्य वसुबन्धु" इति "इत्यस्य च सुबन्धुम्" इति पाठभेदौ।

## अर्थवैमल्यं प्रसादः ॥ ३ ॥

अर्थस्य वैमल्यं प्रयोजकमात्रपदपरिग्रहे * प्रसादः । ( ढ )

यथा,—

"सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भशालिनी" ॥ ८ ॥

विपर्ययस्तु, ( ण )—

"उपास्तां हस्ती मे विमलमणिकाञ्चीपदमिदम्" ॥ ९ ॥

काञ्चीपदमित्यनेन एव नितम्बस्य लक्षितत्वात् विशेषणस्य अप्रयोजकत्वमिति । ( त )

## घटना श्लेषः ॥ ४ ॥

क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगो घटना । स श्लेषः । (थ)

---

केशग्रहस्य समर्पयतीति साभिप्रायत्वम् । अस्य च विपर्ययः,—व्यर्थमपुष्टार्थं च । अपुष्टार्थस्य दोषत्वं "नापुष्टार्थत्वात्" ( ४ अधि० २ अ० १९ सू० ) इति सूत्रे वक्ष्यते । व्यर्थं यथा,—"श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः" इत्यत्र श्यामाशब्दः क्षणत्वमपि प्रतिपादयतीति श्यामलिमाननानयनेति श्यामलिम्नः करणं व्याहतमिति व्यर्थम् । "चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी" इत्यादौ "तारकारिः" इत्यस्य स्थानेऽनुप्रासानुरोधात् प्रयुक्तं "कार्त्तिकेयः" इति पदमपुष्टार्थम् ।

( ढ ) प्रसादं प्रसञ्जयितुमाह—अर्थवैमल्यमिति । प्रयोजकमात्रपदपरिग्रहे इति ।—विवक्षितार्थसमर्पकपदमात्रप्रयोगेऽर्थस्य यद्वैमल्यं स प्रसादः । न च पञ्चाल-प्रौढिप्रसादयोः को भेद इति वाच्यम् ; तयोः परस्परपरिहारेण दर्शनात् । यथा,—"रतिविगलितबन्धे केशग्रहे" इत्यादौ "क्षणाज्ञाः" इति पाठे वैमल्येऽपि न साभि-प्रायत्वम् । "अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदाम्" इत्यादौ साभिप्रायत्वेऽपि नार्थ-वैमल्यम् ।

सवर्णेत्यादि ।—स्पष्टम् ॥ ८ ॥

( ण ) अस्य विपर्ययोऽपुष्टार्थमनर्थकञ्च । तत्राद्यमुदाहरति—विपर्ययस्त्विति ।

( त ) विशेषणस्याप्रयोजकत्वमिति ।—अपुष्टार्थत्वमित्यर्थः । अनर्थकन्तु प्राग्-दाहृतम् ।

( थ ) श्लेषमुद्भेषयितुमाह—घटनेति । मणिपुत्रिकादिषु मुखाद्यवयवयोजनेऽपि

---

* "प्रयोजकमात्रपदपरिग्रहे" इत्यत्र "प्रयोजकमात्रपरिग्रहः" इति पाठान्तरम् ।

यथा,—

"दृष्टैकासनसंस्थिते * प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरात्
एकस्या नयने निमील्य विहितक्रीड़ानुबन्धच्छलः।
हर्षोद्रिक्ततनूरुहः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसाम
अन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति" ॥ १० ॥

शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेषु अस्य भूयान् प्रपञ्चो दृश्यते। (ट)

## अवैषम्यं समता ॥ ५ ॥

अवैषम्यं प्रक्रमाभेदः समता। क्वचित् हि प्रक्रमोऽपि † भिद्यते। (ठ) यथा,—

---

श्लेषणं घटना भवति, सा मा भूदित्याह, क्रमेति।—नेत्रनिमीलनादीनां यः क्रमः परिपाटी, कौटिल्यञ्च, तयोरनुल्बणत्वेनोपपत्त्या युक्ततया पृच्छाचेष्टरूपतया बाधाभावस्वभावतया च योजनं घटना विवक्षिता।

उदाहरति, दृष्टेति।—प्रियतमयोरेका स्वकीया, अपरा तत्सखी प्रच्छन्नानुरागा; अन्यथा नास्त्येकासनसंस्थितिः। निमील्यमाननयना च न देया; तथात्वे हि "प्रियतमे" इति कथम्? क्रीड़ामनुबध्नातीति क्रीड़ानुबन्धं तच्च तत् छलञ्च; विहितं क्रीड़ानुबन्धच्छलं नेत्रनिमीलनकापट्यं येन स तथोक्तः। अस्य विपर्य्ययो लोकविरुद्धत्वम्। यथा हि मथुरायाः सौवीरेषु सत्ता, यथा मथुरायां स्त्रीषण्डसत्ता, तथैव एकासने प्रसिद्धसपत्नीरवस्थितिः। यथा मधौ कदम्बविकासः, तथा सपत्नीसन्निधावेकस्याः क्रीड़ा। यथा कलिकालकरन्दो गोष्पदपूरः, तथा क्रमेण युगपद्वा, द्वयोरेकस्या वा निधुवनमिति देशकालस्वभावैर्विरुद्धम् ॥ १० ॥

(ट) प्रबन्धान्तरेषु भूयिष्ठमुदाहरणमस्ति, तदूहनीयमित्याह—शूद्रकेति।

(ठ) समतां समुन्मीलयितुमाह—अवैषम्यमिति। अवैषम्यं नाम प्रक्रमाभेदः, सुगमत्वं वा भवतीत्यभिसन्धाय प्राथमिकं पक्षमुपक्षिपति, अवैषम्यं प्रक्रमाभेद इति।—प्रक्रमस्याभेदो भेदाभावः; तत्प्रतिपत्तेः प्रक्रमभेदप्रतिपत्तिपूर्व्वकत्वात् प्रक्रमभेदं दर्शयितुं प्रथमतः प्रत्युदाहरणं दर्शयति—क्वचिद्धि प्रक्रम इति।

---

* "संस्थिते" इत्यत्र "सङ्गते" इति पाठान्तरम्।

† "क्वचित् हि प्रक्रमोऽपि" इत्यत्र "क्वचित् क्रमोऽपि" इति पाठभेदः।

"च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पाङ्गमेष्वलसा द्रुमा
मलयमरुतः सर्पन्तीमे वियुक्तधृतिच्छिदः।
अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
न च जरठतामालम्बन्ते क्षमोदयदायिनीम्" ॥ ११ ॥

**ऋतुसन्धिप्रतिपादनपरेऽत्र द्वितीये पादे प्रक्रमभेदः, मलयमरुताम् असाधारणत्वात्। एवन्तु द्वितीयः पादः पठितव्यः, ( न )—**

"मनसि च गिरं बध्नन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः" इति। ( प )

**सुगमत्वं वा अवैषम्यमिति। सुखेन गम्यते ज्ञायते इत्यर्थः। * ( फ ) यथा,—**

"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा" इत्यादि †।

**यथा वा,—**

"का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोवनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्" ‡ ॥ १२ ॥

---

( न ) अत्र प्रक्रमभेदं प्रतिपादयति, ऋतुसन्धीति।—ऋत्वोः शिशिरवसन्तयोः सन्धिः। असाधारणत्वात् वसन्तैकधर्म्मत्वादित्यर्थः। इदमेवोदाहरणयितुं पाठान्तरं प्रकल्पयति—एवन्तु द्वितीय इति।

( प ) "मनसि च गिरं बध्नन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः" इति पाठे प्रक्रमभेदः स्फुटः।

( फ ) विवेकिनोऽव शिष्या इति कथमवैषम्यं प्रक्रमभेदः? इति तत्राऽऽशङ्क्य पक्षान्तरमुपक्षिपति—सुगमत्वं वेति।

उदाहरति, का स्विदिति।—अत्र सुगमत्वं सुगमम् ॥ १२ ॥

---

* "सुगमत्वं वा अवैषम्यमिति" इति वृत्त्यंशः पुस्तकान्तरे सूत्रत्वेन पठितः दृश्यते। तथा "सुखेन" इत्यारभ्य "इत्यर्थः" इत्यन्तः पाठः क्वचित् न विद्यते।

† "अस्त्युत्तरस्याम्" इत्यादि श्लोकपादः पुस्तकविशेषे नास्ति।

‡ "का स्वित्" इत्यादि श्लोकः पुस्तकान्तरे न पठितः।

प्रत्युदाहरणं सुलभम्। (ब)

**अर्थदृष्टिः समाधिः ॥ ६ ॥**

अर्थस्य दर्शनं दृष्टिः। समाधिकारणत्वात् * समाधिः। "अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यति" (१ अधि० ३ अ० १७सू० वृ०) इत्युक्तं पुरस्तात्। (भ)

**अर्थो द्विविधः, अयोनिरन्यच्छायायोनिश्च ॥ ७ ॥**

यस्य अर्थस्य दर्शनं समाधिः, † सोऽर्थो द्विविधः,—अयोनिः, अन्यच्छायायोनिश्चेति। अयोनिरकारणः, ‡ अवधानमात्रकारण इत्यर्थः। अन्यस्य काव्यस्य छाया अन्यच्छाया तद्योनिश्च। (म)

---

(ब) प्रत्युदाहरणं सुलभमिति।—अस्य विपर्ययः क्रमादपक्रमं क्लिष्टत्वच्च। तदुभयमपि पूर्व्वमुदाहृतं द्रष्टव्यम्।

(भ) समाधिं सम्प्रधारयितुमाह—अर्थदृष्टिरिति। ननु समाधिरवधानं, दर्शनन्तु ज्ञानविशेषः, कथमुभयोः सामानाधिकरण्यम्? इत्यत आह, समाधिकारणत्वादिति।—समाधिः कारणं यस्येति [बहुव्रीहिः]। कार्य्यकारणयोरभयोरभेदमुपचर्य्योक्तमित्यर्थः। कार्य्यकारणभावमेव ज्ञापयति, अवहितं हीति।—"चित्तैकाग्र्यमवधानम्" (१ अधि० ३ अ० १७ सू०) इति सूत्रे प्रागुक्तमित्यर्थः। "सद्यः-कृत्तद्विरदरदनच्छेदगौरैः" इत्यादौ यथा च्छेदश्छिद्यमाने दन्तादौ पर्य्यवस्यति, तथा दर्शनमत्र दृश्यमानेऽर्थे पर्य्यवस्यतीति भवत्ययमर्थगुणः।

(म) द्वैविध्यमर्थस्य दर्शयितुमाह—अर्थो द्विविध इति। व्याख्यातुं पूर्व्वसूत्रार्थमनुवदति—यस्येति। अयोनिरिति न विद्यते योनिः कारणं यस्येति विग्रहमभिसन्धायाभिधत्ते—अयोनिरकारण इति। कथमसति कारणभावे कार्य्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य कविबीजप्रतिभोन्मेषप्रयोजकमवधानमेवात्र कारणमित्यवगमयितुं नञा

---

* "समाधिकारणत्वात्" इत्यत्र "समाधानकारणत्वात्" इति क्वाचित्कः पाठः।

† "यस्य अर्थस्य दर्शनं समाधिः" इत्यत्र "योऽसौ अर्थः प्रस्तुतः" इति पाठान्तरम्।

‡ "अकारणः" इत्यत्र "अनन्यकारणः" इति पाठः क्वचित्।

तद्यथा,—

"आश्वपेहि मम सौधभाजनाद्यावदद्यदशनैर्न दश्यसे ।
चन्द्र ! महदशनमण्डलाङ्कितः खं न यास्यसि हि रोहिणीभयात्" ॥ १३ ॥

"मा भैः शशाङ्क ! मम सौधनि नास्ति राहुः
खे रोहिणी वसति कातरा किं विभेषि ? ।
प्रायो विदग्धवनितानवसङ्गमेषु
पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम् ?" ॥ १४ ॥

अत्र पूर्वस्य श्लोकस्य अर्थोऽयोनिः, द्वितीयस्य च अन्यच्छाया-योनिरिति । ( य )

**व्यक्तः सूक्ष्मश्च * ॥ ८ ॥**

अयोनिरन्यच्छायायोनिश्च योऽयमर्थः, † स द्वेधा—व्यक्तः सूक्ष्मश्च । व्यक्तः स्फुटः, उदाहृत एव । ( र )

सूक्ष्मं व्याख्यातुमाह, ( ल )—

---

प्रसिद्धकारणं प्रतिषिध्यते इत्याह—अवधानेति । विधान्तरं व्याकरोति, अन्यस्य काव्यस्येति ।—तद्योनिरित्यत्र सा च्छाया, योनिर्यस्येति [ बहुव्रीहिः ] ।

प्रथमं भेदं दर्शयति, आश्वपेहीति ।—स्पष्टमुदाहरणम् । विधान्तरं व्युत्पादयति, मा भैरिति ।—विभेषीत्यत्र मत्त इत्यध्याहार्य्यम् । स्त्रीणां प्रियस्य पुरतः स्ववैदग्ध्यप्रकटनमुचितमेवेत्यवगन्तव्यम् ॥ १३—१४ ॥

( य ) लक्ष्ये लक्षणमवगमयति, अत्र पूर्वस्येति ।—पूर्वभाविना कविना कृतत्वात् ।

( र ) द्विविधस्याप्यर्थस्य द्वैविध्यं दर्शयितुमाह—व्यक्तः सूक्ष्मश्चेति । व्याचष्टे—अयोनिरिति । व्यक्तार्थद्वयस्य प्रागुक्तमुदाहरणद्वयं प्रत्येतव्यमित्याह—उदाहृत एवेति ।

( ल ) सूक्ष्मविभागं दर्शयितुं सूत्रमवतारयति—सूक्ष्ममिति ।

---

* "व्यक्तः सूक्ष्मश्च" इत्यत्र "अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च" इत्यधिकपाठः क्वचित् ।

† "अयोनिरन्यच्छायायोनिश्च योऽयमर्थः" इत्यत्र "यस्यार्थस्य दर्शनं समाधिरिति" इति पाठान्तरम् ।

## सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च ॥ ९ ॥

सूक्ष्मो द्वेधा भवति—भाव्यो वासनीयश्च। शीघ्रनिरूपणागम्यो भाव्यः। एकाग्रताप्रकर्षगम्यो वासनीय इति। ( व )।

भाव्यो यथा, ( ग )—

"अन्योन्यसम्मिलितनांसलदन्तकान्ति
सोल्लासमाविरलसंवलिताङ्गतारम्।
लीलागृहे प्रतिकलं किलकिञ्चितेषु
व्यावर्त्तमाननयनं मिथुनं चकास्ति" * ॥ १५ ॥

वासनीयो यथा, ( घ )—

---

( व ) विभागं व्युत्पादयति, सूक्ष्मः इति।—भावुकानामवधानमात्रेण विनशीं भावना, तदयोग्यो भाव्यः। सहृदयसद्व्यवहारसमुल्लसितसंस्कारसम्पन्नो योऽवधानप्रकर्षस्तेन गम्यो वासनीयः। तदिदमभिसन्धायाह—शीघ्रेति।

( ग ) आद्यमुदाहरति—भाव्यो यथेति।

अन्योन्येति।—लीलागृहे मिथुनमुक्तविधं चकास्तीति वाक्यार्थः। अन्योन्यसम्मिलितनांसलदन्तकान्तीत्यनेन स्मितसंलापाधरास्वादादयः, सोल्लासमित्यनेन हर्षोत्सुक्यादयः, अलसमित्यनेन श्रमाङ्गदौर्बल्यादयः, किलकिञ्चितेषु व्यावर्त्तमाननयनमित्यनेन प्रणयकलहगर्वभयकम्पादयश्च व्यज्यन्ते; "क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितम्" इति दशरूपके तल्लक्षणकथनात्। अत्र मिथुनमालम्बनविभावः। लीलागृहमुद्दीपनविभावः। अधरास्वादाङ्कनस्मितकम्पनयनव्यावर्त्तनभ्रूभेदादयोऽनुभावाः। उल्लासोन्मीलितहर्षौत्सुक्यादयः किलकिञ्चितात्तिक्रोधश्रीकभयगर्वाश्च सञ्चारिणः। इत्थं विभावानुभावसञ्चारिभिरास्वादनीयतामापाद्यमानो रतिलक्षणः स्थायी भावः साधारण्येन चर्व्यमाणतैकप्राणः सम्भोगशृङ्गारो रसः। तदुक्तं दशरूपके,—"विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः। आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥" इति ॥ १५ ॥

( घ ) वासनीयमुद्भासयति—वासनीय इति।

---

* "सम्मिलित" इत्यत्र "संवलित" इति "किलकिञ्चितम्" इत्यत्र "किलिकिञ्चितम्" इति "नयनम्" इत्यत्र "विनयम्" इति च पाठभेदाः।

"अवहित्थावलितजघनं विवर्त्तिताभिमुखकुचतटं स्थित्वा।
अवलोकितोऽहननया दक्षिणकरकलितहारलतम्" ॥ १६ ॥

## उक्तिवैचित्र्यं माधुर्य्यम् ॥ १० ॥

उक्तेर्वैचित्र्यं यत् तत् माधुर्य्यमिति। (स) यथा,—

"रसवदमृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्ञनो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात्" ॥ १७ ॥

## अपारुष्यं सौकुमार्य्यम् ॥ ११ ॥

परुषेऽर्थेऽपारुष्यं सौकुमार्य्यमिति। (ह)

---

अवहित्थेति।—अवहित्थमाकारगोपनम्। दुर्लभस्त्वत्सम्भोगः, त्वय्येव लग्नासिदं मदीयं मनः, दुरन्तसन्तापशान्तये हारलतिकेयमेका मयि दाक्षिण्यमवलम्बते इत्येवं स्वाभिप्रायप्रकाशनमवधानप्रकर्षणाव सहृदयहृदयसंवेद्यम्। अत्र विप्रलम्भशृङ्गारः। विभावादयः स्वयमूह्याः। अस्य गुणस्य विपर्य्ययो ग्राम्यत्वं "स्वपिति यावत्" इत्यादौ द्रष्टव्यम् ॥ १६ ॥

(स) माधुर्य्यं पर्य्यालोचयितुमाह, उक्तिवैचित्र्यमिति।—वर्ण्यमानस्यार्थस्य प्रकर्षे प्रतिपाद्ये भङ्ग्यन्तरेणोक्तिरुक्तिवैचित्र्यम्।

रसवदमृतमिति।—कस्यचिन्नागरिकस्येयमुक्तिः। अमृतं रसवत् भवत्येव। मधून्यपि नान्यथा रसवन्त्येव। प्रसन्नरसं चूतस्यापि फलमधिकं मधुरमेव। कः सन्देह इति सर्व्वत्रानुषज्यते। तथाऽपि रसान्तरवित् सकृदपि रसविशेषाभिज्ञो जनो मध्यस्थः सन् वदतु, इह लोके प्रियादशनच्छदादन्यत् यदस्तु स्वादु स्यात्, तत् वदतु, रसज्ञः अपक्षपाती चेत् अन्यत् स्वादु भवतीति न वदेत्, तादृशवस्त्वन्तरासम्भवादित्यर्थः। नानाविधोपमानातिशायि दशनच्छदमाधुर्य्यमिति वक्तव्ये रसवदमृतमित्यादिभङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनादव माधुर्य्यम्। अस्य गुणस्य विपर्य्ययो ह्येकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः कथनमित्येकार्थत्वं, प्राय एकार्थश्रुतेर्वैरस्यात् कष्टत्वं वा ॥ १७ ॥

(ह) सौकुमार्य्यं समाख्यातुमाह, अपारुष्यमिति।—परुषे अमङ्गलातङ्कदाक्षिण्यर्थे वर्णनीये यदपारुष्यं, तत् सौकुमार्य्यमिति लक्षणार्थः।

यथा,—मृतं यशःशेषम् इत्याहुः। एकाकिनं देवताद्वितीयमिति। गच्छेति साधयेति च। (क)

## अग्राम्यत्वमुदारता ॥ १२ ॥

ग्राम्यत्वप्रसङ्गेऽग्राम्यत्वम् उदारता। (ख) यथा,—

"त्वमेवंसौन्दर्य्या स च रुचिरतायां परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः।
अयि! हन्त दिष्ट्या तदिति सुभगे! संवदति वा-
मतः श्रेषश्चेत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया" ॥ १८ ॥

विपर्य्ययस्तु, (ग)—

"स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते?।
इति निगद्य शनैरनुमेखलं मम करं स्वकरेण रुरोध सा" ॥ १९ ॥

---

(क) उदाहरणानि स्पष्टानि। अस्य गुणस्य विपर्य्ययोऽश्लीलत्वम्।

(ख) उदारतामुदीरयितुमाह, अग्राम्यत्वमिति।—अत्र कस्ये! कामयमानं कान्तं कामयस्वेति वक्तव्ये ग्राम्यार्थं, यदौचित्येन प्रतिपादनं, सा उदारता।

त्वमेवमिति।—एवं वर्णनापथोत्तीर्णतयाऽनुभूयमानं, सौन्दर्य्यं यस्याः सा तथोक्ता, स च माधवः, रुचिरतायां सौन्दर्य्यविषये, परिचितः संस्तुतः, प्रसिद्ध इति यावत्, युवां स च त्वञ्च, युवामेव परमिह लोके, कलानां सीमानं भजथः। अयि! हे मालति! वां युवयोः, हन्त मिथुनं, दिष्ट्या भाग्येन, संवदति सदृशं भवतीत्यर्थः, अतः श्रेषं पाणिग्रहणरूपं सङ्गलं कर्म्म, स्याच्चेत्, तदानीं गुणितया गुणवत्त्वेन, जितं, युवयोर्गुणसम्पत्तिर्विश्रातिशायिनी भवेदित्यर्थः। अत्र प्रथमं त्वं स चेति पृथक्त्वोक्तेः, ततो युवामिति मिश्रीकरणेन, तदनन्तरं हन्तमिति, ततः श्रेषमिति च विवक्षितार्थव्यञ्जनमुखेन फलपर्य्यवसायित्वमित्यौचित्यशालिना क्रमेण कामन्दक्या मालतीमुद्दिश्योक्तमिति स्पष्टमुदाहरणत्वम् ॥ १८ ॥

(ग) प्रत्युदाहरणं प्रत्याययितुमाह—विपर्य्ययस्विति।

स्वपितीति।—अत्र कश्चित् कामी वयस्याय रहस्यं कथयति। अयं निकटे जनः परिसरसञ्चारी जनः, यावत् स्वपिति यावता कालेन नियतं कर्म्म निर्व्वर्त्त्य निद्राति, तावत् तावन्तं कालं, स्वपिमि, ते किमपैति? तावता कालविलम्बेन तव का हानिर्भवति? इति उक्तप्रकारेण, शनैरुपांशु, निगद्य कथयित्वा, अनुमेखलं मेखलासमीपे, प्रसारितं मम मे, करं स्वकरेण रुरोध निरुद्धवती। स्पष्टं ग्राम्यत्वम् ॥ १९ ॥

## वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः ॥ १३ ॥

वस्तूनां भावानां स्वभावस्य स्फुटत्वं यत् असौ अर्थव्यक्तिः । ( घ ) यथा,—

"पृष्ठेषु शङ्खशकलच्छविषु च्छदानां राजीभिरङ्कितमलक्तकलोहिनीभिः ।
गौरोचनाहरितबभ्रुबर्हिःपलाशमामोदते कुमुदमम्भसि पल्वलस्य" ॥ २० ॥

यथा वा,—

"प्रथमसलसैः पर्य्यस्ताग्रं * स्थितं पृथुकेशरै-
र्विरलविरलैरन्तःप्रवेशनाश्लिलितं ततः ।
तदनु वलनामात्रं किञ्चिद्व्यधायि बर्हिर्दलै-
र्मुकुलनविधौ बद्धाज्ञानां बभूव कदर्थना" ॥ २१ ॥

## दीप्तरसत्वं कान्तिः ॥ १४ ॥

दीप्ता रसाः शृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरसः, तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः । ( ङ ) यथा,—

---

( घ ) अर्थव्यक्तिं समर्थयितुमाह—वस्त्विति । व्याचष्टे, वस्तूनामिति ।—अशेषविशेषैर्वर्णने पुर इव प्रतिभासमानत्वमर्थस्य स्फुटत्वम् ।

उदाहरति, पृष्ठेष्विति ।—शङ्खशकलच्छविषु पृष्ठेषु चरमभागेषु, अलक्तकलोहिनीभी रेखाभिरङ्कितं, गौरोचनावद्धरितानि बभ्रूणि कपिशानि, बर्हिःपलाशानि यस्य तत्, कुमुदं, पल्वलस्य वेशन्तस्य, अम्भसि आमोदते आमोदमुद्भिरतीति योजना । उदाहरणान्तरमाह, प्रथमेति ।—प्रथमसलसैः पृथुकेसरैः पर्य्यस्ताग्रं शैथिल्यशालिशिखरं स्थितम् । ततः परं विरलविरलैरत्यन्तशिथिलैः, अन्तःप्रवेशनाश्लिलितम्, मिलितम् । तदनु बर्हिर्दलैः बलनामात्रं सङ्कोचक्रियारम्भमात्रं, किञ्चित् व्यधायि । इत्थं बद्धाज्ञानां कदर्थना क्लेशदशा, बभूवेति योजना । अस्य विपर्य्ययः सन्दिग्धत्वं क्लिष्टत्वञ्च ॥ २०—२१ ॥

( ङ ) कान्तिं कथयितुमाह—दीप्तरसत्वमिति । व्याचष्टे, दीप्ता इति ।—दीप्ताः विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्ताः ।

---

* "पर्य्यस्ताग्रम्" इत्यत्र "पर्य्यस्ताग्रैः" इति पाठान्तरम् ।

"प्रेयान् सायमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्विचाखेव पदानि वासभवनाद्यावन्न यात्युन्मनाः ।
तावत् प्रच्युतपाणिसम्पुटलसन्नीवीनितम्बं धृती
धाविवैव कृतप्रणामकमहो । * प्रेम्णो विचित्रा गतिः" ॥ २२ ॥

**एवं रसान्तरेषु अपि उदाहरणीयमिति । ( च )**

---

प्रेयानिति ।—अत्र विप्रलम्भपूर्व्वकः सम्भोगशृङ्गारः ॥ २२ ॥

( च ) एवं रसान्तरेष्विति ।—शृङ्गारो द्विविधः—सम्भोगो विप्रलम्भश्च ; तत्राद्यः परस्परावलोकनपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदादपरिच्छेद्यः । तत्रैको भेद उदाहृतः । विप्रलम्भस्तु परस्पराभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः । तत्रादौ यथा,—"प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदयास्तारा सुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि । याश्चन्तःकरणस्य वाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणादाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः" ॥ एवमन्येऽपि विप्रलम्भभेदा ज्ञातव्याः । वीरो यथा,—"क्षुद्राः सन्त्वासमेते विजहित हरयो भिन्नशक्रेभकुम्भा युष्मद्बाणेषु लज्जां दधति परमणौ सायकाः सम्पतन्तः । सौमित्रे ! तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि वधो नन्वहं मेघनादः किञ्चिद्भग्नप्रतिज्ञस्त्रिदशपतिजयी राममन्वेषयामि" ॥ करुणो यथा,—"हा मातस्त्वरितोऽसि कुत्र किमिदं हा दैवतः क्रोऽग्निधीं धिक् प्राणान् परितोऽग्निदुःसहवहो वातेषु दग्धे दृशौ । हस्तं गण्डदकण्डरुक्षकरुणाः पौराङ्गनानां गिरश्चित्स्यात्तेऽपि रोदयन्ति शतधा कुर्व्वन्ति भित्तीरपि" ॥ अद्भुतो यथा,—"चित्रं महानेष वतावतारः क्व कान्तिरेषाभिनवैव भङ्गी । लोकोत्तरं धैर्य्यमहो ! प्रभावः काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः" ॥ हास्यो यथा,—"आकुञ्च्य पार्ष्णिनशिरं मल्ल मूर्द्धि वेल्ला मल्लाभ्यसां प्रतिपदं पृषतैः पविद्वे । तारस्वनं प्रहितसौल्कनदात् प्रहारं हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्म्मा" ॥ भयानको यथा,—"ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभिया भूयसा पूर्व्वकायम् । दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः क्षीणवर्त्मा पश्योदग्रप्लुतत्वादियति बहुतरं भूमिमुर्व्यां प्रयाति" ॥ रौद्रो यथा,—"एतत्कराग्रकरवालनिकृत्तकण्ठनालोच्छलद्बहुलबुद्बुदफेनिलोघैः । सार्द्धं डमड्डमरुडाक्वणितैश्छतभूतवर्गैश्चण्डेश्चरन्ति रुधिरैर्धिनोमि" ॥ बीभत्सो यथा,—"उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथमसथ पृथुस्थेधभूयांसि मांसा-

---

* "प्रच्युत" इत्यत्र "प्रत्युत" इति तथा "कृतप्रणामकमहो !" इत्यत्र "कृतप्रणाममहहा !" इति पाठवैलक्षण्ये ।

अत्र श्लोकाः,—

"गुणस्फुटत्वसाकल्यं * काव्यपाकं प्रचक्षते ।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते ॥ २३ ॥
सुस्निग्धसंस्कारसार यत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत् ।
काव्यं द्राक्षापाकं तत् † जुगुप्सन्ते जनास्ततः ॥ २४ ॥
गुणानां दशता त्यक्तौ ‡ यस्यायमदपार्थकम् ।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारवचं वचः" ॥ २५ ॥

इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ गुणविवेचने तृतीयेऽधिकरणे अर्थगुणविवेचनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

समाप्तश्चेदं गुणविवेचनं नाम तृतीयमधिकरणम् ।

---

त्यसक्थिकपृष्ठपीठाद्यवयवजटिलान्युपपूतीनि जग्ध्वा । आत्तस्वास्थ्यनेत्रः प्रकटित-दशनः प्रेतराजः करङ्कादङ्कस्थादास्यसान्द्रस्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमात्त" ॥ शान्तौ यथा,—"अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा । तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः क्वचित् पुण्ये-ऽरण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः" ॥ एवं भावा अप्युदाहार्याः ।

इत्यनयगुणान् सनयं काव्यस्य गुणस्फुटत्वसाकल्याभ्यां तदभावेन चोपादेयत्वा-नुपादेयत्वे दृष्टान्तमाचष्टे, गुणस्फुटत्वेति ।—गुणानां स्फुटत्वं साकल्यञ्च यत्, स चायं काव्यपाकः । सुस्निग्धा संस्कारा यथाशास्त्रं प्रक्रान्तेषु प्रत्ययधीजनकत्वेन, सारः स्थिरांशो यस्य । क्लिष्टा अस्फुटा, वस्तुनोऽर्थस्य, गुणाः यस्य । अनेन स्फुटगुण-व्यावृत्तिः सूचिता । द्राक्षाया पाक इव पाको यस्य, तत् काव्यम् ; ततो जना जुगुप्सन्ते, किमुत कवय इति भावः । गुणानामिति ।—दशता दशसंख्यापरि-मितेन वर्गेणेत्यर्थः, गुणदशकेन त्यक्ता इत्यर्थः । [ "पञ्चदृशतौ वर्गे वा" ( ५।१।६० पा० ) इति निपातितो दशच्छब्दः ] । अपार्थकं वाक्यमुदाहरति, दाडिमानीति । —"दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिन पललपिण्डः" इति वाक्यं विचारयोग्यं

---

* "साकल्ये" इति पाठान्तरम् ।

† "सुस्निग्धसंस्कारसारम्" इत्यत्र "सुस्निग्धसंस्कारभावम्" इति तथा "द्राक्षा-पाकं तत्" इत्यत्र "द्राक्षापाकं स्यात्" इति विभिन्नपाठद्वयम् ।

‡ "दशता त्यक्तः" इत्यत्र "दशता मुक्तः" "दशनान्मुक्तः" इति च पाठद्वयम् ।

# आलङ्कारिकं नाम चतुर्थमधिकरणम् ।

## प्रथमोऽध्यायः ।

गुणनिर्वर्त्त्या * काव्यशोभा । तस्याश्च अतिशयहेतवोऽलङ्काराः । तन्निरूपणार्थमालङ्कारिकम् अधिकरणम् आरभ्यते—तत्र शब्दालङ्कारौ द्वौ यमकानुप्रासौ क्रमेण दर्शयितुमाह, (क)—

---

न भवति । अतोऽलङ्कारशास्त्राद्दोषगुणस्वरूपं विज्ञाय कविर्दोषान् लक्ष्यात्, गुणानादद्यादितेत्युपदेशः ॥ २३—२५ ॥

इति कृतरचनायामिन्दुवंशीहहेन
विपुरहरधरित्रीमण्डलाखण्डलेन ।
ललितवचसि काव्यालङ्क्रियाकामधेना-
वधिकरणमयासीत् पूर्त्तिमेतत्तृतीयम् ॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्ति-व्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ गुणविवेचनं नाम तृतीयमधिकरणम् ॥ ३ ॥

---

निजसौन्दर्य्यतिर्ध्वांतस्फुरन्नौक्तिकभूषणा ।
प्रसादविशदालोका शारदा वरदाऽस्तु मे ॥

(क) आलङ्कारिकं चतुर्थमधिकरणमारभ्यते । अधिकरणद्वयसङ्घटनामुद्घाटयति, गुणनिर्वर्त्त्येति ।—गुणैर्निर्वर्त्त्या निष्पाद्या । अलङ्कारः प्रयोजनमस्येति आलङ्कारिकम् । [ "प्रयोजनम्" ( ५।१।१०९ पा० ) इति ठक् ] । अलङ्कारा द्विविधाः, —शाब्दाः, आर्थाश्च । तत्र शब्दप्रतिपत्तिपूर्विका अर्थप्रतिपत्तिरिति प्रथमं शब्दालङ्कारान् प्रतिपिपादयिषुस्तद्विभागं दर्शयति—तत्रेति । यमकं विवरीतुं यतते—क्रमेणेति ।

---

* "निर्वर्त्त्या" इत्यत्र "निर्वृत्या" इति पाठान्तरम् ।

## पदमनेकार्थमक्षरं वाऽऽवृत्तं स्थाननियमे यमकम् ॥ १ ॥

पदम् अनेकार्थं भिन्नार्थम् एकम् अनेकं वा, तद्वत् अक्षरम् आवृत्तं स्थाननियमे सति यमकम्। स्ववृत्त्या सजातीयेन वा कात्स्न्र्येनैकदेशाभ्याम् अनेकपादव्याप्तिः स्थाननियम इति। यानि तु एकपादभागवृत्तानि यमकानि दृश्यन्ते, तेषु श्लोकान्तरस्यसंस्थानयमकापेक्षयैव * स्थाननियम इति। ( ख )

---

( ख ) पदमनेकार्थमिति।—अनेकार्थमिति पदविशेषणं, न त्वक्षरविशेषणम्। गवादिश्लिष्टपदवत् नानार्थमात्रं न भवति ; किन्तु स्वरव्यञ्जनात्मकं भिन्नार्थं पदमिह विवक्षितमित्याह—भिन्नार्थमिति। अनेकमिति।—पदमिति जातावेकवचनमिति भावः। "तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्। वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते" ॥ इति भामहेनोक्तं प्रत्याख्यातुमाह, स्थाननियमे सतीति।—यमनमत्र गुणनम्, आवृत्तिरिति यावत् ; यम्यते गुण्यते, आवर्त्यते पदमक्षरं वेति यमः। [ बहुलमृक्षणात् कर्मणि घप्रत्ययः ]। यम एव यमकम्। अयमत्र वाक्यार्थः,—भिन्नार्थमेकमनेकं वा पदं, तद्वदेकमनेकं वा अक्षरञ्च स्थाननियमे सत्यावृत्तं यमकं भवतीति। तथा च पदयमकम्, अक्षरयमकमिति च द्वैविध्यं दर्शितं भवति। कीदृगत्र स्थाननियमः ? इति, तत्राह, स्ववृत्त्येति।—यदेव पदमक्षरं वा यमकनिबन्धनं, तदेव यदि पादान्तरे वर्त्तते ; यथा—"भ्रमर ! द्रुमपुष्पाणि" इत्यादौ, तत्र स्ववृत्त्या आवृत्तिः। "सजातीयनैरन्तर्ये चास्य प्रकर्षः" (४अधि० १अ० "ठ" इति चिह्नितं चूर्णकं द्रष्टव्यम् ) इतोऽहैव वक्ष्यमाणयुक्त्या सजातीयं यत्र पादान्तरे वर्त्तते ; यथा—"हन्त हन्त" इत्यादौ, तत्र सजातीयस्यावृत्तिः। नियतस्थानावृत्तसमानसंख्याकाक्षरसन्निवेशोऽत्र सजात्यम्। कात्स्न्र्येन समस्तपादगतत्वेन। एकदेशेन पादस्यादिमध्यान्तभागगतत्वेनेत्यर्थः। ननु "अथ समावृते कुसुमसैनवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम्। यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्लवम्" ॥ इत्यादौ पादान्तरव्याप्तिलक्षण-

---

* "श्लोकान्तरस्यसंस्थानयमकापेक्षयैव" इत्यत्र "श्लोकान्तरस्य संस्थानं यमकापेक्षयैव" इति पाठभेदः।

स्थानकथनार्थम् आह, ( ग )—

**पादः पादस्यैकस्यानेकस्य चादिमध्यान्तभागाः स्थानानि ॥ २ ॥**

पादः, * एकस्य च पादस्य आदिमध्यान्तभागाः, अनेकस्य च पादस्य ते एव स्थानानि। ( घ )

पादयमकं यथा, ( ङ )—

"असज्जनवचो यस्य कलिकामधुगर्हितम्।
तस्य न स्यादिषतरोः कलिकामधु गर्हितम्" ॥ १ ॥

---

स्थाननियमासम्भवेन यमकता न स्यात्; अतो लक्षणस्याव्याप्तिरिति? तत्राह, यानि लिति।—एकस्यैव पादस्य भागे वृत्तिर्येषां तानि एकपादभागवृत्तीनि; तेषु "द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्" इत्यादिश्लोकान्तरस्थं संस्थानं यस्य तत्तथाभूतं यमकं, तदपेक्षया सजातीयेनानेकपादव्याप्तिर्भवतीति भवत्येव स्थाननियमः।

( ग ) यमकस्थानानि दर्शयितुं सूत्रमवतारयति—स्थानकथनार्थमिति।

( घ ) व्याचष्टे, पाद इति।—अत्रायं विभागः,—प्रथमपादो द्वितीये तृतीये चतुर्थे क्रमेण यम्यते। एवं द्वितीयस्तृतीये चतुर्थे च। तृतीयश्चतुर्थे। तथा प्रथमो द्वितीयादिषु त्रिषु युगपत् यम्यते इति सप्तधा भवति। प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये, इति द्वौ भेदाविति पादयमकं नवधा। पादस्य त्रेधा विभागपक्षे प्रथमादिपादादिभागः पूर्ववत् द्वितीयादिपादादिभागेषु, प्रथमादिपादमध्यभागो द्वितीयादिपादमध्यभागेषु, प्रथमादिपादान्तभागो द्वितीयादिपादान्तभागेषु यम्यते इति सप्तविंशतिधा। खण्डभेदकल्पनया परिगणनायां भूयसी भेदसंख्येत्युपरम्यते।

( ङ ) तत्र दिङ्मात्रं दर्शयितुं पादयमकं तावदुदाहरति—पादयमकमिति।

असदिति।—कलेः कामं दोग्धीति कलिकामधुक् तथाविधम्, असज्जनस्य खलस्य, वचो यस्य अर्हितं पूजितं, भवति, तस्य पुंसः, विषतरोः कलिकामधु कोरकमकरन्दः, गर्हितं न स्यात् तदप्युपादेयं स्यादित्यर्थः ॥ १ ॥

---

* "पादः" इत्यत्र "पादाः" इति पाठान्तरम्।

एकपादस्य आदिमध्यान्त्ययमकानि यथा, ( च )—

"हन्त हन्तरराती‌नां धीर धीरर्चिता तव ।
कामं कामन्दकी नीतिरस्या रस्या दिवानिशम्" ॥ २ ॥

"वसुपरासु परासुमिवोज्झतीष्वविकलं विकलङ्कशशिप्रभम् ।
प्रियतमं यतमन्तुमनीश्वरं रसिकता सिकतास्विव तासु का ?" ॥ ३ ॥

"सुदृशो रसरेचकितं चकितं भवतीचितमस्ति मितं स्मितम् ।
अपि हासलवस्तवकस्तव कस्तुलयेन्नु कामधुरां मधुराम्" ॥ ४ ॥

---

( च ) अथैकस्य पादस्यादिमध्यान्तेषु यमकं क्रमेणोदाहरति—एकपादस्येति ।

हन्तेति ।—अरातीनां हन्तः !, धीर ! प्राज्ञ ! । ( "धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः" इत्यमरः ) । तव धीः अर्चिता । हन्तेति हर्षे । अतः कामन्दकसम्बन्धिनी नीतिः कामन्दकप्रणीता दण्डनीतिरित्यर्थः, अस्याश्चैव धियः, काममत्यर्थं, रस्या आस्वादनीया । नन्वत्र पदयमके द्वयोरपि पदत्वाभावे कथं पदयमकमिति न चोदनीयम् ; यमकनिबन्धनयोर्द्वयोरेकस्य पदत्वे सति तदन्यस्य संहिताकाले तदाकारानुकारितया पदाभासजनकत्वाद्भवत्येव पदयमकमिति ॥ २ ॥

वसुपरास्विति ।—अविकलं सम्पूर्णमित्यर्थः, विकलङ्कशशिप्रभं, यतः उपरतः, मन्तुः अपराधो यस्य तथाविधं निरागसमित्यर्थः, ( "आगोऽपराधो मन्तुश्च" इत्यमरः ) । अनीश्वरं ऐश्वर्यरहितं, प्रियतमं परासुं मृतमिव, उज्झतीषु त्यक्तवतीषु, वसुपरासु वेश्यासु, सिकतास्विव रसिकता रसः आसामस्तीति रसिकाः [ "अत इनिठनौ" ( ५।२।११५ पा० ) इति ठन्प्रत्ययः ] तासां भावो रसिकता, का ? न काचित् तासु रसिकतेत्यर्थः । अत्र प्रियतममित्यन्त्ययमकत्वेन पदाद्यन्तसम्भवान्नेदमुदाहरणम् ॥ ३ ॥

सुदृश इति ।—रसेन रागविशेषेण, रेचकितं भ्रमितं, चकितं भयसम्भ्रान्तं, ( "चकितं भयसम्भ्रमः" इत्यमरः ) । मितं स्तोकं, स्मितं निभृतं, सुदृशः दृक्षणं भवति त्वयि, अस्ति, अपि किञ्च, हासस्य लवो लेशः, ( "लवलेशकणाणवः" इत्यमरः ) । स्तवक इव हासलवो हासलवस्तवकः, ( "उपमितं व्याघ्रादिभिः" ( २।१।५६ पा० ) इति समासः । वयोरभेदः ] सोऽपि त्वय्यस्तीत्यनुषज्यते ; अतः कः पुमान्, तव मधुरां मनोज्ञां, कामस्य धूः कामधुरा ताम्, [ "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" ( ५।४।७४ पा० ) इत्यकारः समासान्तः ] ननु तुलयेत् ? न कोऽपि तुलयेत्, तव कामधुरां परिच्छेत्तुं न शक्नुयादित्यर्थः ॥ ४ ॥

पादयोः आदिमध्यान्तयमकानि यथा, ( क )—

"भ्रमर! द्रुमपुष्पाणि भ्रम रत्यै पिबन्मधु।
का कुन्दकुसुमे प्रीतिः काकुं दत्त्वा विरौषि यत्?" ॥ ५ ॥

"अप्यशक्यं त्वया दत्तं दुःखं शकान्तरात्मनि।
वाष्पो वाहीकनारीणां वेगवाही कपोलयोः" ॥ ६ ॥

"सपदि कृतपदस्खदौचितेन स्मितशुचिना स्मरतत्त्वदीक्षितेन।
भवति वत जनः सचित्तदाही न खलु सृषा कुत एव चित्तदाही?" ॥ ७ ॥

एकान्तरपादान्तयमकं यथा, ( ज )—

"उद्वेजयति भूतानि यस्य राज्ञः कुशासनम्।
सिंहासनवियुक्तस्य तस्य क्षिप्रं कुशासनम्" ॥ ८ ॥

एवम् एकान्तरपादादिमध्ययमकानि ऊह्यानि। ( झ )

समस्तपादान्तयमकं यथा,—

---

( क ) अथ पादयोरादिमध्यान्तभागेषु यमकं क्रमेणोदाहरति—पादयोरिति।

भ्रमरेति।—हे भ्रमर! मधु पिबन्, रत्यै सुखाय, द्रुमपुष्पाण्युद्दिश्य भ्रम सञ्चर, कुन्दकुसुमे का प्रीतिः? काकुं ध्वनिविकारं, ("काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः" इत्यमरः)। दत्त्वा किं विरौषि?। ["रु शब्दे" इति धातुः] ॥ ५ ॥

अप्यशक्यमिति।—अशक्यम् अमह्यं, दुःखं शकानां शकाख्यजनपदस्त्रीणाम्, अन्तरात्मनि, त्वया दत्तम्; [त्वयेति कर्तृपदम्; तदर्थस्तु प्रकरणानुसारेण द्रष्टव्यः] अपि किञ्च, वाहीकनारीणां कपोलयोः, वेगवाही वेगेन वहति प्रवहतीति वेगवाही वाष्पः, दत्त इत्यनुषज्यते ॥ ६ ॥

सपदीति।—स्मितशुचिना कामतत्त्वदीक्षितेन त्वदीक्षितेन सपदि कृतपदस्खलनस्तदेव सचित्तदाहो भवति। न कुतश्चित् कुतोऽपि न मृषा खलु, अहो! ॥ ७ ॥

( ज ) एकान्तरितपादान्तयमकमाह—एकान्तरेति।

उद्वेजयतीति।—यस्य राज्ञः कुशासनं कुत्सितं शासनं, भूतानि प्राणिनः, उद्वेजयति, सिंहासनवियुक्तस्य तस्य कुशासनं कुशमयमासनं, भवति ॥ ८ ॥

( झ ) एवमिति।—एकान्तरितपादादियमकं यथा,—"करोऽतितान्त्री रामाणां तन्त्रीताड़नविक्षमम्। करोति सेर्ष्यं कान्ते च श्रवणोत्पलताड़नम्" ॥ एकान्तरितपादमध्ययमकं यथा,—"यान्ति यस्यान्तिकं सर्वेऽभ्यक्तकान्तमुपाश्रयः। तं शान्तचित्तवृत्तान्तं कालीकान्तमुपाश्रये" ॥ इति।

"नतोन्नतभ्रूगतिबद्धलास्यां विलोक्य तन्वीं शशिपेशलास्याम्।
मनः! किमुत्तास्यसि चञ्चलास्यां क्रतौ स्मराज्ञा यदि पुष्कला स्याम्" ॥ ९ ॥

**एवं समस्तपादादिमध्ययमकानि व्याख्यातव्यानि *। अन्ये च सङ्करजातिभेदाः सुधिया उत्प्रेक्ष्याः। (ञ)**

**अक्षरयमकन्तु एकाक्षरम् अनेकाक्षरञ्च। (ट)**

**एकाक्षरं यथा,—**

"नानाकारेण कान्ताभ्रूराराधितमनोभुवा।
विविक्तेन विलासेन ततच्च हृदयं नृणाम्" ॥ १० ॥

**एवं स्थानान्तरयोगेऽपि द्रष्टव्यः। सजातीयनैरन्तर्य्यादस्य प्रकर्षो भवति। (ठ)**

---

चतुर्ष्वपि पादेषु अन्तयमकमुदाहरति, नतोन्नतेति।—हे चञ्चलमनः! नते उन्नते च भ्रुवौ तयोर्गतिभिर्वलनभङ्गीभिः, बद्धं लास्यं शृङ्गारनटनं यया तां, शशीव पेशलं मनोज्ञमास्यं यस्यास्तां तन्वीं विलोक्य किमुत्तास्यसि? अस्यां तन्व्यां, स्मराज्ञा यदि पुष्कला भवेत्, तर्हि क्रतौ स्यामिति सम्बन्धः ॥ ९ ॥

(ञ) एवमिति।—समस्तपादादियमकं यथा,—"सारसालङ्कताकारा सारसामोदनिर्भरा। सारसालङ्कतप्रान्ता सा रसाढ्या सरोजिनी" ॥ समस्तपादमध्ययमकं यथा—"स्थिरायते यतेन्द्रियो न क्षीयते यतेर्भवान्। अनायते यतेऽयभूत् सुखाय ते यते चयम्" ॥ अन्ये चेति।—"सनाकवनितं नितम्बरुचिरं चिरं सुनिनदैर्नदैर्वृतमसुम्। मता फणवतोऽवतो रसपरा परास्तवसुधा सुधाधिवसति" ॥ इत्यादि।

(ट) अक्षरयमकम् अध्यक्षयितुं तद्विभागमाह—अक्षरयमकमिति।

तदाद्यमुदाहरति, नानेति।—नानाकारेण विविक्तेन शुद्धेन, आराधितमनोभुवा विलासेन, कान्ताभ्रूः, नृणां हृदयं ततच्च। "अडादीनां व्यवस्यार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम्। धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव हि तादृशः" ॥ इति वचनात् विशब्दस्य धात्वंशत्वेनाक्षरावृत्तेरेवेति न पदावृत्तिशङ्कावकाशः ॥ १० ॥

(ठ) एवमिति।—स्थानान्तरयोगे यथा—"सभासु राजन्नसुराहतैर्मुखैर्महीसुराणां वसुराजितैः स्तुताः। न भासुरा यान्ति सुरान्न ते गुणाः प्रजासु रागात्मसु

---

* "समस्तपादादिमध्ययमकानि व्याख्यातव्यानि" इत्यत्र "समस्तपादाधिमध्यान्तयमकानि व्याख्यातव्यानि" इति पाठान्तरम्।

स चायं हरिप्रबोधे दृश्यते। यथा,—

"विविधधववना नागगर्द्धनाना-विवितगगनानामज्जज्जनाना।
रुरुशशललना नाववन्धुनाना मम हि हितनानाननस्वस्वनाना" ॥ ११ ॥

अनया च वर्णयमकमालया पदयमकमाला व्याख्याता। ( ड )

भङ्गादुत्कर्षः ॥ ३ ॥

उत्कृष्टं खलु यमकं भङ्गात् भवति। ( ढ )

शृङ्खला परिवर्त्तकश्चूर्णमिति भङ्गमार्गः ॥४॥

एते खलु शृङ्खलादयो यमकभङ्गानां प्रकारा भवन्ति। (ण)

तान् क्रमेण व्याचष्टे, ( त )—

---

राश्रितां गताः" ॥ इति; "अकलङ्कशशाङ्काङ्कामिन्दुमौलेर्मतिर्मम" इत्यादि। इत्यनत्तरयमकमुदाहृत्य तदेव नैरन्तर्येणाहत्तमुदाहर्त्तुमुपक्रमते—सजातीयेति।

विविधेति।—अत्र पारावारपरिसरभुवमभिलक्ष्य हलधरं हरिराह। विविधानि बहुविधानि, धवानामर्जुनानां, वनानि यस्यां सा विविधधववना ("धवो वृक्षे नरे पत्यावर्जुने च द्रुमान्तरे" इति वैजयन्ती)। नागाः कुञ्जराः सर्पा वा, तान् गृध्यन्ति अभिलषन्तीति नागगर्द्धाः, तथाविधा ऋद्धाः समृद्धाः, ये नानाविधा वयः पक्षिणः, तैर्विततं व्याप्तं, गगनं यस्याः सा नागगर्द्धनानाविवितगगना, न विद्यते नामौ नमनं यस्मिन् कर्मणि तत्तथा मज्जन्तो जना यस्यां सा अनामसज्जज्जना, अनिति प्राणितीति अना, स्फुरन्तीति यावत्; अथवा न विद्यन्ते नरो यस्यां सा अना, [ समासान्तविधेरनित्यत्वात् कबभावः ] रुरूणां शशानाञ्च ललनं विलसनं यस्यां सा रुरुशशललना, नौ आवयोः, अबन्धुं शत्रुं, धुनाना, हि यस्मात् कारणात्, मम हितं तनोतीति हिततना, न विद्यते आननं यस्यासौ अननः, स्व आत्मीयः स्वन एव अनः प्राणनं यस्याः सा अनाननस्वस्वनाना, एवंविधा समुद्रभूमिरिति वाक्यार्थः ॥११॥

( ड ) पदयमकमालेति।—"स्वभुवे स्वभुवे .भयोभयोर्भवतां भवताभसि ते भसिते" इत्यादि द्रष्टव्यम्।

( ढ ) अथ यमकगोचरमेव किञ्चिदैचित्र्यमासूत्रयितुमाह—भङ्गादुत्कर्ष इति। व्याचष्टे, उत्कृष्टमिति।—भङ्गो नाम वर्णविच्छेदः।

( ण ) भङ्गभेदान् भणितुमनुभाषते—शृङ्खलेति। वृत्तिः स्पष्टार्था।

( त ) शृङ्खलादीन् सङ्गथयितुं सूत्रमवतारयति—तानिति।

## वर्णविच्छेदचलनं शृङ्खला ॥ ५ ॥

वर्णानां विच्छेदो वर्णविच्छेदः, तस्य चलनं यत्, सा शृङ्खला। (थ)

यथा,—

कलिकामधुशब्दे कामशब्दविच्छेदे * च तस्य चलनम्। लिसवर्णयोर्विच्छेदात्। (द)

## सङ्गविनिवृत्तौ स्वरूपापत्तिः परिवर्त्तकः ॥६॥

अन्यवर्णसंसर्गः सङ्गः, तद्विनिवृत्तौ स्वरूपस्य अन्यवर्णतिरस्कृतस्य, † आपत्तिः प्राप्तिः परिवर्त्तकः। (ध)

यथा—"कलिकामधुगर्हितम्" इत्यत्र "अर्हितम्" इति पदं गकारस्य व्यञ्जनस्य सङ्गात् गर्हितम् इति अन्यस्य रूपमापन्नम्। तत्र व्यञ्जनसङ्गे विनिवृत्ते स्वरूपमापद्यते अर्हितमिति।

---

(थ) विग्रहं विवृण्वन् व्याचष्टे—वर्णानामिति।

(द) लक्ष्यलक्षणयोरानुकूल्यमुन्मीलयति, यथेति।—"कलिकामधुशब्दे कामशब्दविच्छेदे च तस्य चलनम्" इति पाठः। अत्र चस्त्वर्थे। पदद्वयात्मके कलिकामधुशब्दे, कामशब्दस्य तु विच्छेदे पृथक्कारे तस्य कलिकामधुशब्दस्य चलनं भवति। कुत इत्यत आह—लिसवर्णयोरिति। यद्वा, "कलिकामधुशब्दे कामशब्दविच्छेदे मधुशब्दविच्छेदे च तस्य चलनम्" इति पाठान्तरम्। अत्र चः समुच्चये। अत्र कामशब्दस्य विच्छेदे पृथक्कारे कलिकाविच्छेदस्य चलनं भवति, लिवर्णस्य विच्छेदात्। मधुशब्दस्य विच्छेदे पृथक्कारे कामविच्छेदस्य चलनं भवति, सवर्णस्य विच्छेदादित्यर्थः। एवं शृङ्खलारूपेण वर्णविच्छेदप्रतीतेरयं भङ्गभागीः शृङ्खलीति व्यपदिश्यते।

(ध) परिवर्त्तकं कीर्त्तयितुमाह—सङ्गेति। तद्विनिवृत्तौ अन्यवर्णसाङ्गत्यविनिवृत्तौ। अन्यवर्णो व्यञ्जनं, तेन तिरस्कृतस्य तिरोहितस्य स्वरूपस्यापत्तिः। अर्थान्तरत्वं निवारयति—प्राप्तिरिति।

---

* "कामशब्दविच्छेदे" इत्यत्र "विच्छेदः मधुशब्दे" इति पाठान्तरम्।

† अन्यवर्णतिरस्कृतस्य" इत्यत्र "अन्यरूपतिरस्कृतस्य" इति पाठान्तरम्।

अन्यवर्णसङ्गमेन भिन्नरूपस्य पदस्य तादृप्यविधिरयमिति तात्पर्यार्थः। एतेन इतरावपि व्याख्यातौ। (न)

## पिण्डाक्षरभेदे स्वरूपलोपश्चूर्णम् ॥ ७ ॥

पिण्डाक्षरस्य भेदे सति पदस्य स्वरूपलोपश्चूर्णम्। (प)

यथा,—

"योऽचलकुलमवति चलं दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनां कान्तः।
साग्नि बिभर्त्ति च सलिलं दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनाङ्कान्तः" ॥ १२ ॥

अत्र शुक्तिपदे क्तीति पिण्डाक्षरम्। तस्य भेदे शुक्तिपदं लुप्यते, ककारतिकारयोः अन्यत्र सङ्गमात्। दूरसमुन्मुक्तशुक् अचलकुलम्। तिमीनां कान्तः समुद्रः। (फ)

अत्र श्लोकाः, (ब)—

---

(न) लक्ष्ये लक्षणं योजयति— यथेति। स्पष्टमन्यत्। नन्वन्यवर्णसंयोगे हि यमकत्वं सङ्गच्छते, कथं तन्निवृत्तिरूपयुज्यते? इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाविष्करोति—अन्यवर्णसङ्गमेनेति। एतेनेति।—नानाविच्छेदशालिपदमेलने स्वरूपलाभः, भिन्नयोर्हलोः पिण्डीकरणे च स्वरूपलाभ इति द्वौ भेदौ द्रष्टव्यौ।

(प) चूर्णकं वर्णयितुमाह, पिण्डाक्षरस्येति।—पिण्डाक्षरस्य संयुक्ताक्षरस्य।

उदाहरति, योऽचलकुलमिति।—दूरे समुन्मुक्ता शुक् शीको येन। तिमीनां मत्स्यानां, कान्तः प्रियः, उन्मुक्ता उद्गतमुक्ताः, शुक्तय उन्मुक्तशुक्तयः मीनाश्च अङ्का यस्य स तादृक् अन्तः पर्य्यन्तो यस्य तादृशो यः समुद्रः, चलं भयचञ्चलं, दूरसमुन्मुक्तशुक् अचलकुलमवति, दूरसं दुष्टरसं, साग्नि सलिलं बिभर्त्ति च ॥ १२ ॥

(फ) लक्ष्ये लक्षणानुगमनमभिलक्षयति—अवेति। पिण्डाक्षरं दर्शयति—शुक्तिपदे क्तीति। तस्य पिण्डाक्षरस्य वर्णयोः शुगित्यत्र ककारस्य तिमीत्यत्र तिकारस्य च, भेदे शुक्तिपदस्वरूपं लुप्यते। तत्र हेतुमाह, ककारेति।—ककारतिकारयोः अन्यत्र शुक्तिपदे तिमिपदे च सङ्गमादित्यर्थः। सङ्गममेव दर्शयति—दूरसमुन्मुक्तशुगिति, तिमीनामिति च। विशेषणद्वयस्य यथासङ्ख्यं विशेष्यद्वयं दर्शयति—अचलकुलमिति, कान्तः समुद्र इति च।

(ब) प्रतिपादितेऽर्थे परसंवादं प्रकटयति—अत्र श्लोका इति।

"अखण्डवर्णविन्यासचलनं शृङ्खला मता ।
अनेन खलु भङ्गेन यमकानां विचित्रता ॥ १३ ॥
यदन्यसङ्गमुत्सृज्य नेपथ्यमिव नर्त्तकः ।
शब्दस्वरूपमारोहेत् स ज्ञेयः परिवर्त्तकः ॥ १४ ॥
पिण्डाक्षरस्य भेदेन पूर्वापरपदाश्रयात् ।
वर्णयोः पदलोपी यः स भङ्गश्चूर्णसञ्ज्ञकः ॥ १५ ॥
अप्राप्तचूर्णभङ्गानि यथास्थानस्थितान्यपि ।
अलकानीव नात्यर्थं यमकानि चकासति ॥ १६ ॥
विभक्तिपरिणामेन यत्र भङ्गः क्वचिद्भवेत् ।
न तदिच्छन्ति यमकं यमकोत्कर्षकोविदाः ॥ १७ ॥
आरूढं भूयसा यत्तु पदं यमकभूमिकाम् ।
दुष्येच्चेत् न * पुनस्तस्य युक्तानुप्रासकल्पना ॥ १८ ॥
विभक्तीनां विभक्तत्वं संख्यायाः कारकस्य च ।
आवृत्तिः सुप्तिङन्तानां मिथश्च यमकाद्भुतम्" ॥ १९ ॥

---

पद्यत्रयं स्पष्टार्थम् । भङ्गादुत्कर्ष इत्युपक्रम्य भङ्गमार्गेषु प्रकर्षं प्रतिपाद्य अन्यत्रापकर्षमवगमयितुमाह, अप्राप्तेति ।—अप्राप्तचूर्णभङ्गानीति विशेषणमलकेष्वपि योजनीयम् । विभक्तीति ।—विभक्तीनां परिणामो विपरिणामः, अन्यथाभाव इति यावत् । उदाहरणन्तु—"शिवमात्मनि सत्त्वस्थान् पश्यतः पश्यतः शिवौ" इत्यादि द्रष्टव्यम् । आरूढमिति ।—यत्पदं भूयसा भूम्ना, यमकभूमिकां यमकवदवभासमानत्वम्, आरूढं, तत् दुष्येत् दुष्टं भवेत् । ननु न चेत्तद्यमकं, तर्ह्यनुप्रासोऽस्त्विति शङ्कां शकलीकरोति, न पुनरिति ।—यथा दण्डिनोक्तं,—"कालकाल गलकाल कालमुख कालकाल कालकालघनकालकालपनकाल काल । कालकालसितकालका ललनिकालकालकालकाऽऽलगतु कालकाल कलिकालकाल" ॥ इति । विभक्तीनामिति ।—प्रथमादीनां विभक्तीनां विभक्तत्वं विविधत्वम्, एकवचनादिलक्षणायाः संख्यायाः कर्त्रकर्मादेः कारकस्य विभक्तत्वं, सुबन्तानां तिङन्तानाञ्च पदानामावृत्तिर्यत्र, तत् यमकाद्भुतम् अतिशयितं यमकमित्यर्थः । क्रमेणोदाहरणानि—"विश्वप्रमावा भवता जगन्ति व्याप्तानि मावापि न मुञ्चति त्वाम्" इति, "एताः सन्नाभयो वाला यासां सन्नाभयः प्रियः" इति, "यतस्ततः प्राप्तगुणः प्रभावै यतस्ततश्चेतसि भासतेऽयम्" इति, "सरति

---

* "दुष्येच्चेन्न" इत्यत्र "न युज्यते" इति पाठान्तरम् ।

## शेषः सरूपोऽनुप्रासः ॥ ८ ॥

पदम् एकार्थम् अनेकार्थञ्च स्थानानियतं तद्विधमक्षरञ्च शेषः। सरूपोऽन्येन प्रयुक्तेन तुल्यरूपोऽनुप्रासः। ननु "शेषोऽनुप्रासः" इति एतावदेव सूत्रं कस्मान्न कृतम्? आवृत्तिशेषोऽनुप्रास इत्येव हि व्याख्यास्यते, सत्यम्; सिध्यत्येव आवृत्तिशेषे, किन्तु अव्याप्तिप्रसङ्गः। विशेषार्थञ्च सरूपग्रहणम्। कात्स्न्र्येनैवावृत्तिः, कात्स्न्र्यैकदेशाभ्यान्तु सारूप्यमिति। (भ)

## अनुल्बणो वर्णानुप्रासः श्रेयान् ॥ ९ ॥

वर्णानाम् अनुप्रासः, स खलु अनुल्बणो लीनः * श्रेयान्। (म) यथा,—

---

स रतिकान्तस्ते ललामो ललामः" इत्यादीनि। अत्र विभक्तिविपरिणामभावे यमकत्वहानिः। प्रकृत्यर्थस्यापि भेदे यमकाङ्गत्वमिति विवेकः ॥ १३—१९ ॥

(भ) इदं यमकं लक्षयित्वा अनुप्रासं लक्षयितुमाह—शेष इति। शेषशब्दार्थमाह, पदमिति।—स्थानानियतं प्रागुक्तस्थाननियमरहितमित्यर्थः। एकार्थं पदं, स्थानानियतमनेकार्थञ्च, तद्विधं तथाविधमस्थाननियतमक्षरं शेषः। सरूपपदार्थमाह, सरूप इति।—अन्येन अक्षरेण प्रयुक्तेन पदान्तरेण वा तुल्यरूपः शेषोऽनुप्रासो भवति। अत्र सूत्रे सरूपपदवैयर्थ्यमाशङ्कते, नन्विति।—शेषोऽनुप्रास इत्येव कृते सूत्रे आवृत्तपदानुषङ्गादस्थाननियमं पदमक्षरञ्च आवृत्तमनुप्रासो भवतीति सूत्रार्थे सम्पन्ने सारूप्यमर्थात् सम्पद्यते, किं सरूपग्रहणेनेति शङ्कार्थः। अङ्गीकारेण परिहरति—सत्यमिति। अङ्गीकृतमंशमाह, सिध्यत्येवेति।—सारूप्यमिति शेषः। तथा-व्याप्तेरविशेषत्वेन सामान्येन यत् व्याप्त कात्स्न्र्येनावृत्तत्वं, तन्नावप्रसङ्गः स्यात; विशेषस्तु न सिध्येदित्यर्थः। तमेव विशेषं दर्शयितुमाह, विशेषार्थञ्चेति।—यद्यपि सामान्येन कात्स्न्र्येनावृत्तिर्भवति, तथापि कात्स्न्र्यैकदेशाभ्यां सारूप्यमच वक्तव्यमिति सरूपग्रहणं कृतमित्यर्थः।

(म) अनुप्रासो द्विविधः,—उल्बणः अनुल्बणश्च। तत्रोल्बणादनुल्बण उत्कृष्ट

---

* "श्री वर्णानुप्रासः, स खलु अनुल्बणः अपीनः" इति पाठान्तरेऽपि अपीनः मसृण इत्यर्थः।

"क्वचिन्मसृणमांसलं क्वचिदतीव तारास्पदं
प्रसन्नसुभगं मुहुः खरतरङ्गलीलाङ्कितम् ।
इदं हि तव वल्गुकीरणितनिर्गमैर्गुम्फितं
मनो मदयतीव मे किमपि साधुसङ्गीतकम्" * ॥ २० ॥

**उल्बणस्तु न श्रेयान् । यथा,—**

"वल्गीबद्धोर्ध्वजूटोद्भटमटति रटत्कोटिकोदण्डदण्डः" इति ॥ २१ ॥

## पादानुप्रासः पादयमकवत् ॥ १० ॥

**ये पादयमकस्य भेदाः, ते पादानुप्रासस्य इत्यर्थः । ( य )**

**तेषाम् उदाहरणानि यथा,—**

"कविराजमविज्ञाय कुतः काव्यक्रियादरः ? ।
कविराजश्च विज्ञाय कुतः काव्यक्रियादरः ?" ॥ २२ ॥

"आखण्ड्यन्ति मुहुरमलकौक्षलानि
बालानि बालकपिलोचनपिङ्गलानि" ॥ २३ ॥

"वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधराः शक्रसङ्काश ! † काशाः
काशाभा भान्ति तासां नवपुलिनगताः श्रीनदीहंस ! हंसाः ।
हंसाभाभोदमुक्तः स्फुरदमलरुचिर्मेदिनीचन्द्र ! चन्द्रः
चन्द्राः शारदस्ते जयक्रदुपगतो ‡ विद्विषां काल ! कालः ॥" २४ ॥

---

इत्युपपादयितुमाह—अनुल्बण इति । व्याचष्टे—वर्णानाम् इति । अनुल्बणपदव्याख्यानं, लीन इति ।—मसृण इत्यर्थः । उदाहरणन्तु स्पष्टार्थम् । यथा वा—"अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः । अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला" ॥ इत्यादि प्रसिद्धम् ।

अनुल्बणं प्रसिद्धमिति मत्वा उल्बणमुदाहरति—यथा वल्गीबद्धेति ॥ २१ ॥

( य ) "पादानुप्रासः पादयमकवत्" इत्यत्रातिदेशप्राप्तमर्थमाविष्करोति—ये पादयमकस्येति ।

कविराजमिति ।—एकत्र आदरः, अन्यत्र दरः । ("दरत्रासौ भीतिर्भीः साध्वसं भयम्" इत्यमरः) । उभयत्र आदर इति वा व्याख्येयम् । आखण्ड्यन्तीति ।—अङ्क

---

* "क्वचित्" इत्यादि श्लोकः पुस्तकान्तरे न दृश्यते ।

† "शक्रसङ्काश !" इत्यत्र "श्रीशसङ्काश !" इति पाठान्तरम् ।

‡ "उपगतः" इत्यत्र "उपनतः" इति पाठान्तरम् ।

"कुवलयदलश्यामा मेघा विहाय दिवं गताः
कुवलयदलश्यामो निद्रां विमुञ्चति केशवः।
कुवलयदलश्यामा श्यामालताऽद्य विजृम्भते
कुवलयदलश्यामं चन्द्रो नभः प्रविगाहते" ॥ २५ ॥

एवम् अन्येऽपि भेदा * द्रष्टव्याः।

इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तावालङ्कारिके चतुर्थेऽधिकरणे शब्दालङ्कार-
विचारो नाम प्रथमोऽध्यायः।

---

"लानि" इत्यन्तरानुप्रासः। वस्त्रायन्ते इति।—हे शुक्लसङ्काश! सितकुसुमधराः काशाः नदीनां वस्त्रायन्ते दुकूलवदाचरन्तीत्यर्थः। हे श्रीनदीहंस! श्री राज्यलक्ष्मीरिव नदी तव हंस!, तासां नदीनां नवपुलिनगताः काशाभा हंसा भान्ति। हे मेदिनीचन्द्र! चन्द्रः हंसाभैरम्भोदैर्मुक्तः, अत एव स्फुरदमलरुचिर्भवति। हे विद्विषां काल! चन्द्राङ्कः शारदः कालः, ते जयङ्कदुपगत इति। अत्र समस्तपादान्तपदानुप्रासः। पादान्तपदानामुपरि पादादिषु पुनर्ग्रहणान्मुक्तपदग्रहाख्यमन्यदपि वैचित्र्यं द्रष्टव्यम्। कुवलयदलेति।—अत्र सर्वपादादिपदानुप्रासः॥ २२—२५॥

(२) एवमन्येऽपीति।—"सितकरकरुचिरविभा विभाकराकार धरणिधर कीर्त्तिः। पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य" ॥ इत्यादयः प्रत्येतव्याः।

इति श्रीगोपेन्द्रविपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्ति-
व्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ आलङ्कारिके नाम
चतुर्थेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः॥

---

* क्वचित् "भेदाः" इति पाठो नास्ति।

# द्वितीयोऽध्यायः ।

——:०:——

सम्प्रति अर्थालङ्काराणां प्रस्तावः । तन्मूलञ्च उपमेति तामेव विचार्य्यते । ( क )—

## उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा ॥ १ ॥

उपमीयते सादृश्यमानीयते येन उत्कृष्टगुणेन अन्यत्, * तदुपमानम् । यत् उपमीयते सादृश्यमानीयते यत् † न्यून-गुणं, तदुपमेयम् । उपमानेन उपमेयस्य गुणलेशतः साम्यं यत्, असौ उपमेति । ननु उपमानमित्युपमेयमिति च सम्बन्धि-शब्दौ एतौ, तयोः एकतरोपादानेन एव अन्यतरसिद्धिरिति । यथा,—"उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" ( २।१।५६ पा० ) इत्यत्र उपमितग्रहणमेव कृतं, न उपमानग्रहणमिति ; तद्वदत्र उभयग्रहणं न कर्त्तव्यम् ? सत्यम् ; तत् कृतं लोक-प्रसिद्धिपरिग्रहार्थम् । यदेव उपमेयमुपमानञ्च लोकप्रसिद्धं, तदेव परिगृह्यते, नेतरत् । न हि यथा,—"मुखं कमलमिव" इति, तथा "कुमुदमिव" इत्यपि भवति । ( ख )

---

उत्खण्डिततमःश्लोकमुपेयमुपरि श्रुतेः ।
उदर्चिरुपमामिन्दोरुक्तिज्योतिरुपास्महे ॥

( क ) शब्दालङ्कारेषु चर्चितेषु, खलेकपोतन्यायादखिलानामर्थालङ्काराणा-मशेषेण प्राप्तौ, प्रकृतित्वात्तेषां प्रथममुपमां प्रस्तौति—सम्प्रतीति ।

( ख ) व्याख्यातुं सूत्रमुपादत्ते—उपमानेनेति । उपमानोपमेयपदव्युत्पत्तिं

---

* "अन्यत्" इत्यत्र "अन्यस्य यत्" इति पाठान्तरम् ।

† "सादृश्यमानीयते यत्" इति पाठः पुस्तकान्तरे न दृश्यते ।

गुणबाहुल्यतश्च कल्पिता ॥ २ ॥

गुणानां बाहुल्यं गुणबाहुल्यं, तत उपमानोपमेययोः साम्यात् कल्पितोपमा; कविभिः कल्पितत्वात् कल्पिता। पूर्वा तु लौकिकी। ननु कल्पितायां लोकप्रसिद्ध्यभावात् कथमुपमानोपमेयनियमः? गुणबाहुल्यस्य उत्कर्षापकर्ष-कल्पनाभ्याम्। (ग)

तद्यथा, (घ)—

---

प्रदर्शयति, उपमीयते इति।—उत्कृष्टगुणेन येन चन्द्रादिना सादृश्यमानीयतेऽन्य-न्मुखादिकं, तदुपमानम्। यत्तु न्यूनगुणमुत्कृष्टगुणेनान्येनोपमीयते तदुपमेयम, उपमानेन सादृश्यं प्रापयितुमर्हमित्यर्थः। गुणलेशत इति।—गुणा उपमानोपमेययो-रुत्कृष्टधर्माः, तेषां लेशत एकदेशतः, क्वचिदपि सर्वाकारसादृश्यासम्भवादिति भावः। ननु सम्बन्धिशब्दयोरितरेतरग्रहणेऽन्यतरस्यानुक्तसिद्धत्वमिति शङ्कते—नन्विति। असमर्थ-मभियुक्तोक्तिसंवादेन समर्थयते, यथेति।—"उपमितं व्याघ्रादिभिः" (२।१।५६ पा०) इति पाणिनीयसूत्रे यथोपमितपदग्रहणेनैव व्याघ्रादीनामुपमानत्वमवगम्यते, तद्वदा-व्युपमानग्रहणं न कर्त्तव्यमिति शङ्कितुरभिप्रायः। परिहरति, तत् कृतमिति।—तत् उभयग्रहणं कृतम्। किमर्थम्? लोकप्रसिद्धस्योपमानस्य परिग्रहार्थम्। न ह्यत्र व्युत्पत्तिबलादागतमुपमानं विवक्षितं, किन्तु लोकप्रसिद्धमेवेत्यवगमयितुमुभयग्रहणं कृतमित्यर्थः। तत्प्रसिद्ध्यप्रसिद्धी दर्शयति, यथेति।—यथा मुखं पद्ममिवेत्यत्र पद्मं मुखोपमानत्वेन प्रसिद्धं, न तथा कुमुदमिवेत्यपि भवति प्रसिद्धमिति भावः।

(ग) लौकिकी कल्पिता चेत्युपमा द्विविधा; तत्र कल्पितोपमां प्रकटयित-माह—गुणबाहुल्यत इति। उपमायाः कल्पितत्वव्यपदेशे कारणमाह—कविभि-रिति। या पुनरुपमा गुणलेशतः साम्यलक्षणा सा लौकिकी प्रागुक्तैवेत्याह—पूर्वा तु लौकिकीति। प्रसिद्ध्यभावात् कल्पितायामिदमुपमानमिदमुपमेयमिति व्यवस्था न घटते इति शङ्कते—नन्विति। इह खलूपमानोपमेययोर्मुखचन्द्रयोर्गुणोत्कर्षापकर्षौ व्यवस्थापकौ। तत्तत्कल्पनया कल्पितायामुपमानोपमेयनियमो घटते। अतो न लोकविरोध इति परिहरति—गुणबाहुल्यस्येति।

(घ) उदाहरति—तद्यथेति।

"उद्गर्भश्लक्ष्णतरुणीरमणोपमर्दसुग्रोन्नतस्तननिवेशनिभं हिमांशोः।
बिम्बं कठोरविसकाण्डकडारगौरैर्विष्णोः पदं प्रथमसंगकरैर्व्यनक्ति" ॥ १ ॥
"सद्योमुखिततप्तश्लक्ष्णचिबुकप्रस्पर्द्धि नारङ्गकम्" ॥ २ ॥
"अभिनवकुशसूचिस्पर्द्धि कर्णे शिरीषम्" इति ॥ ३ ॥
"इदानीं प्लक्षाणां जरठदलविश्लेषचतुर-
स्त्रिभीनामावद्धः स्फुरितशुकचञ्चूपुटनिभम्।*
ततः स्त्रीणां हन्त त्रसमनधरकान्तिं तुलयितुं
क्षमन्तान्निर्याति स्फुटसुभगरागं किसलयम्" ॥ ४ ॥

## तद्वैविध्यं, पदवाक्यार्थवृत्तिभेदात् ॥ ३ ॥

तस्या उपमाया द्वैविध्यं, पदवाक्यार्थवृत्तिभेदात्। एका पदार्थवृत्तिः, अन्या वाक्यार्थवृत्तिरिति। (ङ) पदार्थवृत्तिर्यथा, (च)—

---

उद्गर्भा व्यक्तगर्भा, या श्लक्ष्णाख्यजनपदतरुणी तस्या रमणेन भर्त्रा, उपमर्दो गाढालिङ्गनं, तेन सुग्रः स चासावुन्नतः स्तनश्च सुग्रोन्नतस्तनः तस्य निवेशः सन्निवेशः, नम्रलाकार इति यावत्, तन्निभं, हिमांशोर्बिम्बं, कठोरविसकाण्डा इव कडारगौराः कपिशावदातास्तैः, अग्रकरैः, प्रथमसंगे, विष्णोः पदमाकाशं, व्यनक्ति। विषयव्याप्त्यर्थमुदाहरणान्तराख्याह, सद्य इति।—मुखितेन वापितेन, मप्तस्य श्लक्ष्णजनपदपुरुषस्य चिबुकेन प्रस्पर्द्धितुं शीलमस्यास्तीति तत्सन्निभं भवति नारङ्गकमिति। इदानीमिति।—जरठदलानां जीर्णपर्णानां, विश्लेषेण चतुरा मनोज्ञाः, स्त्रिभयोऽङ्कुरा येषां, ("स्त्रिभिश्च स्त्रिभितः शुङ्गोऽप्यङ्कुरोऽङ्कुर एव च"। इति हलायुधः)। तेषां प्लक्षाणां किसलयम्, आवद्धो घटितः, स्फुरित ईषद्विवृतः, शुकस्य यश्चञ्चूपुटस्तन्निभं भवति, ततोऽनन्तरं, स्फुटसुभगरागं व्यक्तमनोज्ञारुणं, स्त्रीणामधरकान्तिं तुलयितुं क्षमं योग्यं सत्, निर्याति ॥ १—४ ॥

(ङ) उपमाविभागमुदीरयितुमाह—तद्वैविध्यमिति। व्याचष्टे—तस्या इति।

(च) पदार्थवृत्तिमुपमां प्रतिपादयति—पदार्थेति।

---

* "इदानीं प्लक्षाणां जरठदलविश्लेषचतुरः शिखानामावद्धः स्फुरति शुकचञ्चूपुटनिभः"। इति पाठान्तरम्।

"हरिततनुषु * बभुत्वग्विमुक्तासु यासां
कनककणसधर्मा मान्मथो रोमभेदः" ॥ ५ ॥

वाक्यार्थवृत्तिर्यथा,—

"पाण्ड्योऽयंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः" ॥ ६ ॥

## सा पूर्णा लुप्ता च ॥ ४ ॥

सा उपमा पूर्णा लुप्ता च भवति। ( ङ )

## गुणद्योतकोपमानोपमेयशब्दानां सामग्र्ये पूर्णा ॥ ५ ॥

गुणादिशब्दानां सामग्र्ये साकल्ये पूर्णा। ( ञ ) यथा,—

"कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्" इति ॥ ७ ॥

## लोपे लुप्ता ॥ ६ ॥

गुणादिशब्दानां लोपे वैकल्ये लुप्ता। गुणशब्दलोपे यथा,—"शशीव राजा" इति। द्योतकशब्दलोपे यथा,—"दूर्वाश्यामेयम्"। उभयलोपे यथा,—"शशिमुखी" इति। उपमानोपमेयलोपस्तु उपमाप्रपञ्चे द्रष्टव्यः। ( झ )

---

हरिततनुष्विति।—कनककणसधर्मेत्यत्र पदार्थवृत्तिरुपमा। वाक्यार्थवृत्तिमुपमामुदाहरति—पाण्ड्योऽयमिति ॥ ५—६ ॥

( ङ ) पुनर्भेदं प्रादुर्भावयितुमाह— सा पूर्णा लुप्ता चेति।

( ञ ) पूर्णां वर्णयितुमाह—गुणद्योतकेति। व्याचष्टे—गुणादीति। उपमानोपमेयसमानधर्मसादृश्यप्रतिपादकानामन्यूनत्वेन प्रयोगे पूर्णा।

कमलमिवेति।—अत्र कमलमुपमानं, मुखमुपमेयम्, इवशब्दः सादृश्यद्योतकः, मनोज्ञशब्दः समानधर्मवचनः; एतेषामन्यूनतया प्रयोगादियमुपमा पूर्णा ॥ ७ ॥

( झ ) लुप्तां लक्षयति—लोपे इति। गुणादिशब्दानामिति।—उपमानोपमेयगुणसादृश्यप्रतिपादकानां मध्ये एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता। शशीव राजे-

---

* "हरति तनुषु" इति पाठान्तरम्।

**स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु ॥ ७ ॥**

स्तुतौ निन्दायां तत्त्वाख्याने चास्याः प्रयोगः। (ञ)

स्तुतिनिन्द्योर्यथा,—

"स्निग्धं भवत्यमृतकल्पमहो! कलत्रं हालाहलं विषमिवापगुणं तदेव" ॥ ८ ॥

तत्त्वाख्याने यथा,—

"तां रोहिणीं विजानीहि ज्योतिषामव मण्डले।
यस्मिन्! तारकान्यामः शकटाकारमाश्रितः" ॥ ९ ॥

**हीनत्वाधिकत्वलिङ्गवचनभेदासादृश्यासम्भवास्तद्दोषाः ॥ ८ ॥**

तस्या उपमाया दोषा भवन्ति,—

हीनत्वम्, अधिकत्वं, लिङ्गभेदः, वचनभेदः, असादृश्यम्, असम्भव इति। (ट)

तान् क्रमेण व्याख्यातुमाह,—

**जातिप्रमाणधर्म्मन्यूनतोपमानस्य हीनत्वम् ॥ ९ ॥**

---

त्यच साधारणधर्मस्याप्रयोगादेकस्य लोपः। दूर्वाश्यामेत्यत्रोदाहरणे सादृश्यद्योतकस्याप्रयोगादेकस्य लोपः। श्यामाशब्देनैव धर्मधर्मिणोरुक्तत्वात्। दूर्वामरकतश्यामं दुष्टराक्षसहारि यत्। अचलं लोचनायास्मे मा चलत्वनिशं महः" ॥ इत्युदाहरणान्तरमपि द्रष्टव्यम्। अग्निमुखीत्यत्र सादृश्यधर्मवचनयोर्द्वयोर्लोपः। उपमानस्योपमेयस्य वा लोपः समासोक्त्यादावुदाहरिष्यते इत्याह, उपमानेति।—समासोक्त्यादावुपमेयस्य, आक्षेपादावुपमानस्य लोप इति द्रष्टव्यम्।

(ञ) उपमामात्रस्य विषयं दर्शयितुमाह—स्तुतीति।

स्निग्धमित्यादौ स्तुतिः। हालाहलमित्यादौ निन्दा। तां रोहिणीमित्यत्र तत्त्वाख्यानम् ॥ ८—९ ॥

(ट) उपमादोषानुद्घाटयितुमाह—हीनत्वेति। समासार्थं विविच्य दर्शयति—तस्या इति।

जात्या प्रमाणेन धर्मेण च उपमानस्य न्यूनता या, तत् हीनत्वमिति। (ठ)

जातिन्यूनत्वरूपं हीनत्वं यथा, (ड)—

"चाण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम्" ॥ १० ॥

प्रमाणन्यूनत्वरूपं हीनत्वं यथा,—

"वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति" ॥ ११ ॥

उपमेयात् उपमानस्य धर्मतो न्यूनत्वं यत्, तत् धर्मन्यूनत्वम्। तद्रूपं हीनत्वं यथा,—

"स मुनिर्नीलमाञ्छितो मौञ्जया कृष्णाजिनपटं वहन्।
व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान्" ॥ १२ ॥

अत्र मौञ्जाप्रतिवस्तु तड़िन्नास्ति उपमाने इति हीनत्वम्। न च कृष्णाजिनपटमात्रस्य उपमेयत्वं युक्तं, मौञ्जया व्यर्थत्वप्रसङ्गात्। ननु नीलजीमूतग्रहणेन एव तड़ित् प्रतिपाद्यते? तन्न; व्यभिचारात्। (ढ)

---

(ठ) तत्र प्रथमोद्दिष्टं हीनत्वं प्रथयितुमाह—जातीति। व्याचष्टे, जात्येति।—जातिर्ब्राह्मणत्वादिः। प्रमाणं परिमाणम्। धर्मः समानगुणः। एतेषामन्यतमेन न्यूनत्वमुपमानस्य हीनत्वम्।

(ड) तत्राद्यमुदाहरति—जातिन्यूनत्वरूपमिति।

चाण्डालैरिति।—अत्र साहसकारित्वं साधर्म्यम्। जातिन्यूनत्वं स्फुटम्। वह्निस्फुलिङ्ग इति।—अत्र परिमाणन्यूनत्वमतिरोहितमेव। स मुनिरिति।—नीलजीमूतेन कृष्णमेघेन, भागे एकत्र प्रदेशे, आश्लिष्टः॥ १०—१२॥

(ढ) धर्मतो न्यूनत्वमुपमानस्य दर्शयति, अथेति।—मौञ्जाः समानं वस्तु प्रतिवस्तु तड़ित्, साऽत्र नास्ति, उपमानविशेषणतया अनुपादानादित्यर्थः। ननु उपमाने यावदृष्टं, तावदेव साधर्म्यमुपमेये विवक्षितं, मौञ्जीलाञ्छनन्तु स्वरूपकथनार्थमिति शङ्कां शकलयति—न चेति। नीलजीमूतस्य तड़ित्साहचर्य्यात् तद्ग्रहणेनैव तड़ित्संवित्तिरप्युपलभ्यते, ततो न काचिन्न्यूनतेति शङ्कते—नन्विति। तड़ितमन्तरेणापि नीलजीमूतस्य सद्भावान्नैवमिति परिहरति—तन्न, व्यभिचारादिति।

अव्यभिचारे तु भवन्ती प्रतिपत्तिः केन वार्य्यते ? (ण) तदाह,—

**धर्म्मयोरेकनिर्देशेऽन्यस्य संवित्, साहचर्य्यात् ॥ १० ॥**

धर्मयोरेकस्यापि धर्मस्य निर्देशेऽन्यधर्मस्य संवित् प्रतिपत्तिर्भवति। कुतः ? साहचर्य्यात्। सहचरितत्वेन प्रसिद्धयोरवश्यम् एकस्य निर्देशेऽन्यस्य प्रतिपत्तिर्भवति। (त)

तद्यथा, (थ)—

"निर्वृष्टेऽपि वहिर्घने न विरमन्त्यन्तर्जरद्देश्मनो
लूतातन्ततिच्छिदो मधुपृषत्पिङ्गाः पयोविन्दवः।
चूडावर्वरके निपत्य कणिकाभादेन जाताः शिशो-
रङ्गास्फालनभग्ननिद्रगृहिणीचित्तव्यथादायिनः" ॥ १३ ॥

अत्र मधुपृषतां वृत्तत्वपिङ्गत्वे सहचरिते। तत्र पिङ्गशब्देन पिङ्गत्वे प्रतिपन्ने वृत्तत्वप्रतिपत्तिर्भवति। (द) एतेन,—

"कनकफलकचतुरस्रं श्रोणिबिम्बम्" इति व्याख्यातम्। (ध)

---

(ण) व्यभिचाराभावे तु सहचरितधर्म्मप्रतीतिरस्त्येवेति प्रदर्शयितुमनन्तरसूत्रमवतारयति—अव्यभिचारे त्विति।

(त) व्याचष्टे, धर्म्मयोरिति।—कार्य्यत्वानित्यत्ववदविनाभूतयोर्धर्मयोरेकस्य ग्रहणेन अशाब्दस्याप्यन्यस्य प्रतिपत्तिर्भवति, तयोरव्यभिचारादिति वाक्यार्थः।

(थ) उदाहरति—तद्यथेति।

निर्वृष्टे इति।—वहिर्घने निर्वृष्टे निर्गतं वृष्टं वर्षणं यस्मात् तादृशि सत्यपि, जरद्देश्मनः शिथिलगृहस्य, लूतास्तन्तुजालकराः क्रमयः, ("लूता स्त्री तन्तुवायोर्ण-नाभमर्कटकाः समाः" इत्यमरः)। तत्तन्तूनां ततीश्छिन्दन्तीति तथोक्ताः, मधुपृषत्-पिङ्गाः मधुबिन्दुपिङ्गलाः, पयोबिन्दवो न विरमन्ति विरतेऽपि वर्षे वेश्मबिन्दवो न विरमन्तीत्यर्थः ॥ १३॥

(द) अत्रेति।—मधुपृषतां वृत्तत्वपिङ्गत्वे सहचरिते अविनाभूते। तत्र पिङ्ग-शब्देनैव पिङ्गत्वप्रतिपत्तौ अशाब्द्यापि वृत्तत्वप्रतीतिर्भवति।

(ध) उदाहरणान्तरमाह—कनकफलकेति।

अत्र कनकफलकस्य गौरत्वचतुरस्रत्वयोः साहचर्यात् चतुरस्रत्वश्रुत्यैव गौरत्वप्रतिपत्तिरिति। (न)

ननु च यदि धर्मन्यूनत्वम् उपमानस्य दोषः, कथमयं प्रयोगः? (प)—

"सूर्य्यांशुसम्मीलितलोचनेषु दीनेषु पद्मानिलनिर्मलेषु।
साध्वीः स्वगेहेष्विव भर्त्तृहीनाः केका विनेशुः शिखिनां मुखेषु" ॥ १४ ॥

अत्र बहुत्वमुपमेयधर्माणाम् उपमानात्, न, विशिष्टानामेव मुखानाम् उपमेयत्वात्, तादृशेषु एव केकाविनाशस्य सम्भवात्। (फ)

## तेनाधिकत्वं व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

तेन हीनत्वेन अधिकत्वं व्याख्यातम्; जातिप्रमाणधर्माधिक्यम् अधिकत्वमिति। (ब)

---

(न) उक्तं सूत्रार्थमुदाहरणे योजयति, अत्रेति।—कनकफलकस्य चतुरस्रत्वश्रुत्या तत्सहचरितं गौरत्वमपि प्रतीयते, अव्यभिचारादित्यर्थः।

(प) धर्मन्यूनत्वस्योपमादोषत्वे प्रयोगविरोधमाशङ्कते—ननु चेति।

प्रयोगविरोधं प्रदर्शयति, सूर्य्येति।—सुखेष्वित्युपमेयस्य लोचनसम्मीलनदैन्यनिर्मलत्वानां धर्माणां बाहुल्यं प्रतीयते इति विरोधः॥ १४ ॥

(फ) परिहरति, नेति।—भर्त्तृहीनजनाश्रयत्वेन गृहेष्वपि दैन्यमवगम्यते। तादृशेषु गृहेषु साध्वीनामिव दैन्यविशिष्टेषु शिखिमुखेषु केकानां विलयो वक्तव्यः, अन्यथा तदसम्भवात्। दैन्यञ्च नेत्रनिमीलननिर्मलत्वाभ्यां तदनुभावाभ्यामुपपादितमिति नास्ति धर्मन्यूनतेत्याह, विशिष्टानामिति।—"धर्मांगमे दुर्मदतिग्मरश्मिसन्तापसम्मीलितलोचनेषु। साध्वीः स्वगेहेष्विव भर्त्तृहीनाः केका विलीनाः शिखिनां मुखेषु"॥ इति विधान्तरं विधातुं न प्रबन्धकर्त्ता न प्रगल्भते; किन्तु भर्त्तृहीनत्वस्य निर्मलत्वादेरुपपादकस्य भेदेऽप्युभयत्र दैन्यमेव साधर्म्यमिति विवक्षितमिति न कश्चिद्विरोधः।

(ब) अधिकत्वं व्याख्यातुं सूत्रं व्याहरति, तेनेति।—हीनत्वमिवाधिकत्वमपि जात्यादिभिस्त्रिविधम्।

जात्याधिक्यरूपमधिकत्वं यथा, (भ)—

"विशन्तु विष्टयः * शीघ्रं रुद्रा इव महौजसः" ॥ १५ ॥

प्रमाणाधिक्यरूपं यथा,—

"पातालमिव नाभिस्ते स्तनौ क्षितिधरोपमौ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसन्निभः" ॥ १६ ॥

धर्माधिक्यरूपं यथा,—

"सरश्मि चञ्चलं चक्रं दधद्देवी व्यराजत।
सबाड्वाग्निः सावर्त्तः स्रोतसामिव नायकः" ॥ १७ ॥

सबाड्वाग्निरित्यस्य † उपमेयेऽभावात् धर्माधिक्यमिति। अनयोः दोषयोः विपर्य्ययाख्यस्य दोषस्य अन्तर्भावान्न पृथक् उपादानम्। अत एव अस्माकं मते षड्दोषा इति। (म)

## उपमानोपमेययोर्लिङ्गव्यत्यासो लिङ्गभेदः ॥ १२ ॥

उपमानस्य उपमेयस्य च लिङ्गयोर्व्यत्यासो विपर्य्ययो लिङ्गभेदः। (य) यथा,—

"सैन्यानि नद्य इव जग्मुरनर्गलानि" ॥ १८ ॥

---

(भ) तस्य क्रमेणोदाहरणानि दर्शयति—जात्येति।

विशन्त्विति;—विष्टयः कारवो भृत्या वा। ("विष्टिः कारौ कर्मकरे" इति वैजयन्ती)। पातालमित्यादि स्पष्टम् ॥ १५—१६ ॥

(भ) सबाड्वाग्निः सावर्त्त इत्यत्राधिक्यमुपमाने दर्शयति, सबाड्वेति।—अत्र सरश्मीति चक्रविशेषणवदावर्त्तविशेषणानुपादानान्न्यूनत्वमपि द्रष्टव्यम्। जाति-प्रमाणहीनत्वाधिकत्वे पदार्थोपमायां दोषः, धर्मन्यूनत्वाधिकत्वे तु वाक्यार्थोपमायाम्। पदार्थोपमायां न धर्मन्यूनाधिकभावः सम्भवति, समानधर्मस्यैकत्वेन वाक्यार्थोपमाया-मिवानेकविशेषवैशिष्ट्यासम्भवादिति द्रष्टव्यम। विपर्य्ययाख्यस्येति।—उपमेयधर्मस्य हीनत्वमधिकत्वञ्च विपर्य्ययः; तदात्मकस्य दोषस्य हीनत्वाधिकत्वानतिरेकात् तवै-वान्तर्भाव इति तन्निरूपणेनैव निरूपितप्रायत्वान्न पृथगभिधानं कृतमित्यर्थः। अस्माक-मिति।

(य) लिङ्गभेदमुल्लिङ्गयितमाह—उपमानोपमेययोरिति। सूत्रार्थविवरणोदा-

---

* "विष्टयः" इत्यत्र "वृषण्यः" इति पाठान्तरम्।

† "इत्यस्य" इत्यनन्तरं "प्रतिवस्तुनः" इत्यधिकपाठः पुस्तकविशेषे दृश्यते।

## इष्टः पुंनपुंसकयोः प्रायेण ॥ १३ ॥

पुंनपुंसकयोरुपमानोपमेययोर्लिङ्गभेदः प्रायेण बाहुल्येन इष्टः। (र) यथा,—

"चन्द्रम् इव मुखं पश्यति" इति। "इन्दुरिव मुखं भाति" इत्येवंप्रायन्तु नेच्छन्ति। (ल)

## लौकिक्यां समासाभिहितायामुपमाप्रपञ्चे च ॥ १४ ॥

लौकिक्यामुपमायां समासाभिहितायाम् उपमायाम् उपमाप्रपञ्चे च इष्टो लिङ्गभेदः प्रायेणेति। (व)

लौकिक्यां यथा, (श)—"कायेव स तस्य" "पुरुष इव स्त्री" इति।

समासाभिहितायां यथा,—

"भुजलता नीलोत्पलसदृशी" इति। (ष)

उपमाप्रपञ्चे यथा,—

"शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः" ॥ १९ ॥

---

हरणे सुगमे एव। "गङ्गाप्रवाह इव तस्य निरर्गला वाक्" इत्यादिषु स्त्रीपुंसयोरपि द्रष्टव्यः।

(र) उक्तयुक्त्या पुंनपुंसकयोर्दोषत्वप्रसङ्गे लिङ्गभेदस्य क्वचिदपवादं दर्शयितुमाह—इष्ट इति।

(ल) एवम्प्रायमिति।—एवम्प्रायन्तु नेच्छन्तीत्यात्मनस्तदौदासीन्यमवगमयति। यत्र हि लिङ्गभेदेऽपि विशेषणसुभयान्वयक्षमं, तत्र न दोषः। यत्र तु विशेषणसैकवान्वितं सदितरत्र नान्वयक्षमं, तत्र दोष इति तात्पर्यम्।

(व) लिङ्गान्तरेऽप्यपवादं दर्शयितुमाह, लौकिक्यामिति।—लोकतः प्रसिद्धा उपमा लौकिकी। समासेनाभिहिता लुप्ता। उपमाप्रपञ्चः प्रतिवस्तूपन्यासः। तत्र लिङ्गभेदः प्रायेणेष्टः।

(श) उदाहरणानि दर्शयति—लौकिक्यामिति।

(ष) भुजेति।—उदाहरणानि स्पष्टार्थानि।

शुद्धान्तदुर्लभमिति।—अत्र प्रतिवस्तूपमा ॥ १९ ॥

एवम् अन्यदपि प्रयोगजातं द्रष्टव्यम्। (स)

**तेन वचनभेदो व्याख्यातः ॥ १५ ॥**

तेन लिङ्गभेदेन वचनभेदो व्याख्यातः। (ह) यथा—

"पास्यामि लोचने तस्याः पुष्पं मधुलिहो यथा" ॥ २० ॥

**अप्रतीतगुणसादृश्यमसादृश्यम् ॥ १६ ॥**

अप्रतीतैरेव गुणैः यत् सादृश्यं, तत् अप्रतीतगुणसादृश्यम् असादृश्यम्। (क) यथा—

"ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्" ॥ २१ ॥

काव्यस्य शशिना सह यत् सादृश्यं, तत् अप्रतीतैरेव गुणैरिति।

ननु च अर्थानां रश्मितुल्यत्वे सति काव्यस्य शशितुल्यत्वं भविष्यति, मैवम्; काव्यस्य शशितुल्यत्वे सिद्धे अर्थानां रश्मितुल्यत्व सिध्यति। न हि अर्थानां रश्मीनाञ्च काश्चित् सादृश्यहेतुः प्रतीतो गुणोऽस्ति। तत् एवम् इतरेतराश्रयदोषो दुरुत्तर इति। (ख)

---

(स) एवमिति।—"नेदं नभोमण्डलमस्खुराग्निः" इत्याद्यपङ्गुत्वादौ द्रष्टव्यम्।

(ह) वचनभेदं विवेचयितुमाह—तेनेति।

पास्यामीति।—पास्याम इति वक्तव्ये पास्यामीति प्रयुक्तत्वाद्वचनभेदः ॥ २० ॥

(क) असादृश्यं प्रकाशयितुमाह—अप्रतीतैरिति। अप्रतीतैः सहृदयसंवादिप्रतिपत्त्यविषयैरित्यर्थः।

ग्रथ्नामीति।—काव्यशशिनोः सादृश्यमप्रतीतगुणमित्यसादृश्यम् ॥ २१ ॥

(ख) नन्वर्थानां रश्मिसादृश्यप्रतीत्या काव्यशशिनोरपि सादृश्यं सम्भवतीति शङ्कते—नन्विति। परस्पराश्रयपराहतमिदं चोद्यमिति परिहरति, मैवमिति।—अर्थानां रश्मिसादृश्ये सिद्धे शशिसादृश्यं काव्यस्य सिध्यति, सिद्धे च काव्यस्य शशिसादृश्येऽर्थानां रश्मिसादृश्यमिति परस्पराश्रय इत्यर्थः। ननु काव्यशशिसादृश्यनिरपेक्षमेव अर्थरश्मिसादृश्यं सम्भवति, कुतः परस्पराश्रयप्रसङ्ग इत्यत आह—न ह्यर्थानामिति। दुरुत्तरः दुष्परिहरः।

**असादृश्यहता ह्युपमा, तन्निष्ठाश्च कवयः ॥ १७ ॥**

असादृश्येन हता असादृश्यहता उपमा, तन्निष्ठा उपमानिष्ठाश्च कवय इति। ( ग )

**उपमानाधिक्यात्तदपोह इत्येके ॥ १८ ॥ (घ)**

उपमानाधिक्यात्तस्य असादृश्यस्यापोह इत्येके मन्यन्ते। यथा—

"कर्पूरहारहरहासचितं यशस्ते"। इति ॥ २२ ॥

अत्र कर्पूरादिभिरुपमानैः बहुभिः यशसः सादृश्यं संस्थापितं भवति, तेषां शुक्लगुणातिरेकात्। ( ङ )

**नापुष्टार्थत्वात् ॥ १९ ॥**

उपमानाधिक्यात्तदपोह इति यदुक्तं, तन्न, अपुष्टार्थत्वात्। एकस्मिन् उपमाने प्रयुक्ते उपमानान्तरप्रयोगो न

---

( ग ) सादृश्यैकसारायामुपमायां परां काष्ठामातिष्ठमानैः कविभिरसादृश्यमवश्यमपोहनीयमिति शिक्षयितुं सूत्रमुपक्षिपति—असादृश्येति। उपमानिष्ठाः उपमापरायणा इत्यर्थः।

( घ ) परपक्षं प्रतिक्षेप्तुं पूर्वपक्षसूत्रमुपक्षिपति, उपमानेति।—तदपोहः तस्य असादृश्यस्य, अपोहः परिहारः।

उदाहरति—कर्पूरेति ॥ २२ ॥

( ङ ) श्वेतिमातिशयविशिष्टतया वर्णनीये यशसि सितिमगुणाप्रतीतौ वैसादृश्यशङ्कायां सितिमगुणातिशयविशिष्टैर्बहुभिरुपमानैः सादृश्यदार्ढ्यकरणे उपमेये शौक्ल्यगुणातिरेकावगमात् वैसादृश्यमपोह्यते इत्यभिसन्धाय व्याचष्टे—अत्रेति। अत्र हेतुमाह—तेषामिति।

( च ) बाहुल्येऽप्युपमानानामर्थप्रकर्षाधायकत्वाभावाद्वाक्यं पङ्क्तौ युज्यते इति दूषयितुं सूत्रमनुभाषते—नापुष्टार्थत्वादिति। परपक्षमनूद्य प्रतिक्षिपति—उपमानेति। अत्र हेतुमुपन्यस्यति—अपुष्टार्थत्वादिति। हेतुं विवृणोति, एकस्मिन्निति।—एकेनैवोपमानेन सितिमगुणावगमे सिद्धे पुनः सहस्रमप्युपमानानि यशसि सितिमः परं प्रकर्षमाधातुं न पारयन्तीत्यर्थः। ननु कर्पूरादयः शब्दा यशसि सिति-

कञ्चिदर्थविशेषं पुष्णाति। तेन "बलसिन्धुः सिन्धुरिव क्षुभितः" इति प्रयुक्तम् *। ननु सिन्धुशब्दस्य हि:प्रयोगात् पौनरुक्त्यम्? न; अर्थविशेषात्। बलं सिन्धुरिव वैपुल्यात् बलसिन्धुः सिन्धुरिव क्षुभित इति क्षोभसारूप्यम् †। तस्मात् अर्थभेदान्न पौनरुक्त्यम्। अर्थपुष्टिस्तु नास्ति। सिन्धुरिव क्षुभित इत्यनेन एव वैपुल्यं प्रतिपत्स्यते। उक्तं हि—"धर्मयोरेकनिर्देशेऽन्यस्य संवित्, साहचर्य्यात्"। (४ अधि० २ अ० १० सू०) (च)

## अनुपपत्तिरसम्भवः ॥ २० ॥

अनुपपत्तिः अनुपपन्नत्वम् उपमानस्य असम्भवः। (छ) यथा—

---

नानं प्रतिपादयन्तः, सहृदयचर्वणीयत्वं परिष्कारत्वं व्यापकत्वञ्च गुणान्तरमवगमयन्ति; अतोऽस्त्येवार्थपरिपोष इति चेत्, सैवम्; कर्पूरादयः शब्दाः सितपदसमभिव्याहारेण सितिमानि शङ्कलितशक्तयो न किमपि गुणान्तरमुद्दीपयितुमुत्सहन्ते। यदि कनकफलकचतुरश्रत्वं तद्धीरत्वमिव कर्पूरादिपदैः सितिमगुणोऽवगम्यमानः स्वसहचरितमपि चर्वणीयत्वं परिष्कारत्वं व्यापनशीलत्वञ्च गुणान्तरमवगमयेत्, तदा स्यात् पुष्टार्थत्वम्। उक्तं दूषणसन्यत्राप्यतिदिशति—तेनेति। बलसत्यर्थभेदे सिन्धुशब्दस्य हिरुक्तौ पौनरुक्त्यमिति वक्तव्यमिति शङ्कामनुभाषते—नन्विति। दूषयति—नेति। हेतुमाह, अर्थेति।—अर्थभेदादित्यर्थः। अर्थभेदमेव समर्थयते, बल सिन्धुरिवेति।—बलसिन्धुरित्यत्र वैपुल्यं प्रतिपाद्यम्। अन्यत्र तु क्षोभसारूप्यमिति भेदः। निगमयति—तस्मादिति। अपुष्टार्थत्वं स्पष्टयति—अर्थपुष्टिस्त्विति। सिन्धुक्षोभोऽपि गम्यमानः स्वसहचरितं वैपुल्यमप्यवगमयतीत्यत्र सूत्रं संवादयति—उक्तं हीति। "इह राजति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव" इत्यत्र इयोरिन्दुशब्दयोः श्रेष्ठचन्द्रवाचकत्वेनैकार्थ्याभावान्न अपुष्टार्थत्वमित्यवगन्तव्यम्।

(छ) असम्भवं व्याख्यातुमाह—अनुपपत्तिरिति। अनुपपन्नत्वमिति।—उपपत्तिशून्यत्वम्, अनुपपत्तिरित्यर्थः।

---

* "प्रत्युक्तम्" इति पाठान्तरम्।

† "क्षोभसारूप्यात्" इति पाठान्तरम्।

"चकास्ति वदनस्यान्तः स्मितच्छाया विकासिनः। *
उन्निद्रस्यारविन्दस्य मध्ये मुग्धेव चन्द्रिका" ॥ २३ ॥

चन्द्रिकायाम् उन्निद्रत्वम् अरविन्दस्य इति अनुपपत्तिः। ननु अर्थविरोधोऽयम् अस्तु, किम् उपमादोषकल्पनया? न; उपमायाम् अतिशयस्य इष्टत्वात् †। ( ज )

कथं तर्हि दोषः? इत्यत आह, ( झ )—

**न विरुद्धोऽतिशयः ॥ २१ ॥**

विरुद्धस्य अतिशयस्य संग्रहो न कर्त्तव्य इति अस्य सूत्रस्य तात्पर्य्यार्थः। तान् एतान् षट् उपमादोषान् ज्ञात्वा कविः परित्यजेत्। ( ञ )

इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौवालङ्कारिके चतुर्थेऽधिकरणे उपमाधिकारो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

---

उदाहरति, चकास्तीति।—विकासिनो वदनस्यान्तर्मध्ये, स्मितच्छाया उन्निद्रस्यारविन्दस्य मध्ये मुग्धा मनोज्ञा, चन्द्रिकेव चकास्ति ॥ २३ ॥

( ज ) अवासम्भवमवगमयति—चन्द्रिकायामिति। असम्भवस्यार्थदोषत्वमपाकर्त्तुमनुभाषते, नन्विति।—उन्निद्रारविन्द-तन्मध्यवर्त्तिचन्द्रिकार्थयोर्विरोधित्वादयमसम्भवोऽर्थदोषोऽस्तु; नोपमादोषत्वं कल्पनीयमित्यर्थः। परिहरति, नेति।—विकासिनो मुखस्य स्मितविकासे वर्णनीये तदुपमानभूतया उन्निद्रारविन्दसम्बन्धिन्या चन्द्रिकया सादृश्ये सति कस्यचिदतिशयस्याभिमतत्वादित्यर्थः।

( झ ) कथं तर्हीति।—इष्टश्चेदयमतिशयः, तर्हि गुण एवायं, न तु दोष इत्यर्थः।

( ञ ) परिहरति, नेति।—अतिशयो विरुद्ध इति यतः, अतो दोष एवेत्यर्थः। निर्वृत्तमर्थं सूत्रस्य निगमयति—विरुद्धस्येति। प्रदर्शितानामेषामुपमादोषाणां परित्याग एव फलमित्याह—तानेतानिति।

इति श्रीगोपेन्द्रविपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ आलङ्कारिके चतुर्थेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः॥

---

* "चकास्ति वदने तस्याः स्मितच्छाया विकासिनि" इति पाठभेदः।

† "इष्टार्थत्वात्" इति पाठान्तरम्।

# तृतीयोऽध्यायः ।

सम्प्रति उपमाप्रपञ्चो विचार्य्यते—कः पुनरसौ ? इत्याह, (क)—

## प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः ॥ १ ॥

प्रतिवस्तु प्रभृतिर्यस्य स प्रतिवस्तुप्रभृतिः । उपमायाः प्रपञ्च उपमाप्रपञ्च इति । ( ख )

वाक्यार्थोपमायाः प्रतिवस्तुनो भेदं दर्शयितुमाह, (ग)—

---

सुधारसाभे सुषमाप्रवाहे मुक्तायमानैर्मणिभिर्विचित्रैः ।
ज्योत्स्नेव तारोभिरलङ्कृता मे सा शारदा चेतसि सन्निधत्ताम् ॥

मूलं वस्तु निगुम्फनोदितकनद्दाक्यानि शाखाः परं
दौग्यद्दाचकसंहृतिर्दलगणो राजद्गुणाः पल्लवाः ।
अर्थाः पुष्पकदम्बकं सुरुचिरा भूषाः फलं रीतयो
जीवो यस्य विभाति सोऽयमतुलो वाग्दिव्यशाखी चिरम् ॥

( क ) सर्वालङ्कारप्रकृतिभूतामुपमामुपपाद्य तत्प्रपञ्चं प्रपञ्चयितुम् आरभते—सम्प्रतीति । अनुयोगपूर्वकमनन्तरसूत्रमवतारयति—कः पुनरिति ।

( ख ) व्याचष्टे, प्रतिवस्त्विति ।—प्रभृतिशब्द आद्यर्थः । प्रतिवस्तुप्रमुखाणाम् अलङ्काराणामुपमागर्भत्वादुपमाप्रपञ्च इति व्यपदेशः कृतः । "प्रतिवस्तुप्रभृतय उद्दिश्यन्ते यथाक्रमम् । प्रतिवस्तु समासोक्तिरथाप्रस्तुतप्रशंसनम् ॥ अपह्नुतौ रूपकञ्च श्लेषो वक्रोक्त्यलङ्कृतिः । उत्प्रेक्षाऽतिशयोक्तिश्च सन्देहः सविरोधकः ॥ विभावनाऽनन्वयः स्यादुपमेयोपमा ततः । परिवृत्तिः क्रमः पश्चाद्दीपकञ्च निदर्शना ॥ अर्थान्तरस्य न्यसनं व्यतिरेकस्ततः परम् । विशेषोक्तिरथ व्याजस्तुतिर्व्याजोक्त्यलङ्कृतिः ॥ स्यात्तुल्ययोगिताऽऽक्षेपः सहोक्तिश्च समासतः । अथ संसृष्टिभेदौ द्वावुपमारूपकं तथा ॥ उत्प्रेक्षाऽवयवश्चेति विज्ञेयोऽलङ्कृतिक्रमः" ॥

( ग ) ननु प्रतिवस्तुनो वाक्यार्थरूपत्वेन वाक्यार्थोपमानिरूपणेनैव गतार्थत्वमिति न लक्षणान्तरापेक्षेति शङ्कां शकलयन् लक्षणभेदं दर्शयितुमाह—वाक्यार्थेति ।

**उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु ॥ २ ॥**

समानं वस्तु वाक्यार्थः, तस्य न्यासः समानवस्तुन्यासः; उपमेयस्य अर्थाद्वाक्यार्थस्य, उक्तौ सत्यामिति। अत्र द्वौ वाक्यार्थौ, एको वाक्यार्थोपमायाम्* इति भेदः। (घ) तद्यथा—

"देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं न भजत्येषा।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम्" ॥ १ ॥

प्रतिवस्तुनः समासोक्तेर्भेदं दर्शयितुमाह, (ङ)—

**अनुक्तौ समासोक्तिः ॥ ३ ॥**

उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः। संक्षेपवचनात् समासोक्तिरिति आख्या। (च) यथा—

"श्लाघ्या ध्वस्ताध्वगग्लानेः करीरस्य मरौ स्थितिः।
धिक्सेरौ कल्पवृक्षाणामव्युत्पन्नार्थिनां† श्रियः" ॥ २ ॥

---

(घ) सूत्रार्थं विवृणोति—समानं वस्त्विति। किमिदं समानं वस्तु? पदार्थरूपम्, उत वाक्यार्थरूपमिति विशयो मा भूदित्याह—वाक्यार्थ इति। समानवस्तुन उपमानस्य वाक्यार्थत्वाभ्युपगमबलादुपमेयस्यापि वाक्यार्थत्वसिद्धिरित्याह, उपमेयस्येति।—उपमेयस्य वाक्येन प्रतिपादने उपमानस्यापि वाक्यान्तरेण प्रतिपादनं प्रतिवस्त्विति लक्षणार्थः; अत एव वाक्यार्थोपमायाः प्रतिवस्तुनो भेद इत्याह—अत्रेति।

देवीभावमिति।—अत्र पूर्वोत्तरवाक्याभ्यां वस्तुप्रतिवस्तुनोः प्रतिपादनात् प्रतिवस्त्वलङ्कारः ॥ १ ॥

(ङ) समासोक्तिं वक्तुमाह—प्रतिवस्तुन इति।

(च) लक्षणवाक्यार्थं विवृणोति, उपमेयस्येति।—समानवस्तुन उपमानस्य, न्यासः वाक्येनोपपादनमित्यर्थः। समासोक्तिरिति संज्ञाऽन्वर्थेत्याह—संक्षेपेति।

उदाहरति, श्लाघ्येति।—करीरो वंशो बर्बूरो वा, ("करीरोऽस्त्री दन्तिदन्तमूले चक्रकरे घटे। सल्लक्यामपि बर्बूरे काचे वंशे तदङ्कुरे" ॥ इत्यमरशेषः)। अव्युत्पन्नार्थि-

---

* "एको वाक्यार्थोपमायाम्" इत्यत्र "एको वाक्यार्थः प्रतिवस्तूपमायाः" इति पाठान्तरम्।

† "अव्युत्पन्नार्थिनाम्" इत्यत्र "अनुत्पन्नार्थिनाम्" इति पाठान्तरम्।

समासोक्तेरप्रस्तुतप्रशंसाया भेदं दर्शयितुमाह,—

**किञ्चिदुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा ॥ ४ ॥**

उपमेयस्य किञ्चित् लिङ्गमात्रेण उक्तौ समानवस्तुन्यासे * अप्रस्तुतप्रशंसा। ( छ ) यथा—

"लावण्यसिन्धुरपरैव हि काचनेयं † यद्वीत्पलानि शशिना सह संभवन्ति।
उन्मज्जति स्थिरदकुम्भतटी च यत्र यद्वापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः" ॥ ३ ॥

अप्रस्तुतस्य अर्थस्य प्रशंसनम् अप्रस्तुतप्रशंसा। ‡

अपह्नुतिरपि ततो भिन्नेति दर्शयितुमाह, ( ज )—

**समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिः ॥ ५ ॥**

समेन तुल्येन वस्तुना वाक्यार्थेन अन्यस्य वाक्यार्थस्य अपलापो निह्नवो यः तस्य अध्यारोपेण ¶ असौ अपह्नुतिः। ( झ )

---

नाम् अर्थपदार्थव्युत्पत्तिरहितानाम्। अत्र करीरस्य मरुस्थितिश्लाघनेन कल्पद्रुत्राणां मेरुस्थितिनिन्दनेन च तदुपमेययोः परोपकारप्रवण तद्विमुखयोः श्लाघानिन्दे सनस्योक्ते इति समासोक्तिः। २ ॥

( छ ) अप्रस्तुतप्रशंसां प्रस्तोतुमाह—किञ्चिदिति। लिङ्गमात्रेणोक्तौ एकदेशेनोपादाने।

लावण्येति।—अत्र लावण्यपदार्थेनैकदेशेनोपमेयानां नयनादीनामुक्तावुत्पलादीनामप्रस्तुतानां प्रशंसनादप्रस्तुतप्रशंसा नामालङ्कारः ॥ ३ ॥

( ज ) अपह्नुतिमवगमयितुमाह, अपह्नुतिरिति।—ततः प्रतिवस्तुनामालङ्कारात्, भिन्नेत्यर्थः।

( झ ) समेनेति।—वाक्यार्थभूतेनोपमानेनान्यस्य वाक्यार्थभूतस्योपमेयस्यापलापः अतस्मिंस्तत्त्वाध्यारोपेण अपह्नुतिरिति लक्षणार्थः।

---

* "समानवस्तुन्यासः" इति पाठान्तरम्।

† "काचनेयम्" इत्यत्र "कैयमत्र" इति पाठान्तरम्।

‡ "अप्रस्तुतस्यार्थस्य प्रशंसनमप्रस्तुतप्रशंसा" इत्यस्य प्राक् "यद्वीत्पलानि शशिना सह इति, स्थिरदकुम्भतटी च यत्र इति, यद्वापरे इति च" इत्यधिकः पाठः क्वचित्।

¶ "तस्य अध्यारोपेण" इत्यत्र "तत्त्वाध्यारोपणाय" इति पाठान्तरम्।

यथा—

"न केतकीनां विलसन्ति सूचयः प्रवासिनो हन्त ! हसत्ययं विधिः।
तड़िल्लतेयं न चकास्ति चञ्चला पुरः स्मरज्योतिरिदं प्रवर्त्तते" ॥ ४ ॥

वाक्यार्थयोः तात्पर्य्यात् तादूप्यमिति न रूपकम्। (ञ) रूपकन्तु कीदृशम् ? इत्याह, (ट)—

**उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात्तत्त्वारोपो रूपकम् ॥ ६ ॥**

उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वस्य अभेदस्य आरोपणम् आरोपः रूपकम्। उपमानोपमेययोः उभयोरपि ग्रहणं लौकिक्याः कल्पितायाश्च उपमायाः प्रकृतित्वम् अत्र यथा विज्ञायेत इति। (ठ) यथा—

"इयं गेहे लक्ष्मीरियमसृतवर्त्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ?" ॥ ५ ॥

---

न केतकीनामिति।—सूचयः कुड्मलाः। ("केतकीमुकुले सूचिः सैविन्यां पिशुने तु ना"। इति हलायुधः)। केतकीसूचिविलासतड़िल्लताविलासयोरुपमेययोरुपमानभूतविधिहासस्मरज्योतिर्विवर्त्तनाध्यारोपेण तयोरपलापादपह्नुतिः ॥ ४ ॥

(ञ) आरोपरूपत्वाविशेषात् कथमपह्नुते रूपकाद्भेद इत्याशङ्क्य भेदं दर्शयति, वाक्यार्थयोरिति।—अपह्नुतौ वाक्यार्थयोरार्थिकं तादूप्यं, रूपके तु पदार्थयोः शाब्दं तादूप्यमिति भेदः।

(ट) रूपकं निरूपयितुमाह— रूपकन्तु कीदृशमिति।

(ठ) व्याचष्टे—उपमानेनेति। लौकिककल्पितोपमाप्रकृतिकत्वं रूपकस्य निरूपयितुमुपमानोपमेययोर्ग्रहणं कृतमित्याह—उपमानेति।

उदाहरति, इयं गेहे लक्ष्मीरिति।—अत्र इयमिति सर्व्वनाम्ना सीतां निर्दिश्य तत्र लक्ष्मीत्वमसृतवर्त्तित्वम्, अस्याः स्पर्शे चन्दनरसत्वं, बाहौ मौक्तिकसरत्वञ्चाध्यारोप्यते इति रूपकम् ॥ ५ ॥

मुखचन्द्रादीनान्तु उपमासमासात् न चन्द्रादीनां * रूपकत्वं युक्तमिति। (ङ)

रूपकात् श्लेषस्य भेदं दर्शयितुमाह,—

## स धर्मेषु तत्त्वप्रयोगे श्लेषः ॥ ७ ॥

उपमानेन उपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रियाशब्दरूपेषु स तत्त्वारोपः, † तत्त्वप्रयोगे तत्त्वेन उच्चारणे सति श्लेषः। (ढ) यथा—

"आक्रष्टामलमण्डलाग्यरुचयः सन्नद्धवक्षःस्थलाः
सौम्याणो व्रणिनो विपक्षहृदयप्रोन्माथिनः कर्कशाः।

---

(ङ) इत्युपमानोपमेययोर्व्यासेन प्रयोगे रूपकमुदाहृत्य समासेन प्रयोगे तूपमैव न रूपकमित्याह, मुखेति।—मुखचन्द्रादीनां पुरुषव्याघ्रादिसादृश्यादुपमात्वमेव, न रूपकत्वं सम्भवति, तत्त्वाध्यारोपासम्भवादिति भावः। इदमवानुसन्धेयम्,—येषां व्याघ्रादिषु पाठोऽस्ति तेषामुपमैव, ये त्विन्दुप्रभृतयस्तत्र न पठ्यन्ते, ते च व्याघ्रादेराकृतिगणत्वात् तत्र द्रष्टव्याः। तथाऽपि मतान्तरानुरोधेन मुखचन्द्रादिषु क्वचिदुपमा, क्वचिद्रूपकमिति वैरूप्यं सम्भवति। तथाच यत्र "ज्योत्स्नेव भाति द्युतिराननेन्दोः" इत्यादावुपमायां साधकं प्रमाणमस्ति, तत्र व्याघ्रादिसमासः, यत्र "मोहमहाचलदलने भक्तिः कुलिशाग्रकोटिरेव नृणाम्" इत्यादौ रूपके साधकं प्रमाणमस्ति, तत्र मयूरव्यंसकादिसमासः; "अविहितलक्षणस्तत्पुरुषो मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यः" इति वचनात्।

(ढ) श्लेषं लक्षयितुमाह—स धर्मेष्विति। सूत्रार्थं विवृणोति—उपमानेनेति। धर्माणां धर्मिसापेक्षत्वाद्धर्मिणमनुषज्य दर्शयति, उपमेयस्येति।—गुणसाम्यत इति श्लेषः। धर्मस्वरूपमाह—गुणेति। तच्छब्दपरामृश्यं दर्शयति, तत्त्वारोप इति।—अनेकोपकारकारि सकृदुच्चारणं तत्त्वम्। उपमानोपमेययोर्गुणसाम्ये तद्धर्मेषु गुणादिषु तत्त्वेन प्रयोगे सति यत्ताद्रूप्यारोपणं, स श्लेष इति लक्षणार्थः।

आक्रष्टेति।—आक्रष्टे कीर्त्यादृते, मण्डलाग्रे खड्गे, रुचिः प्रीतिर्येषाम्। आक्रष्टा आहृता, स्वीकृतेति यावत्, मण्डलस्य बिम्बस्य, अग्रे उपरिभागे, रुचिः कान्तिर्यैः। सन्नद्धं कवचितं परिणद्धञ्च, वक्षःस्थलं येषाम्। ऊष्मणा दर्पेण उष्णगुणेन च, सह

---

* "चन्द्रादीनाम्" इति पाठः पुस्तकान्तरे न दृश्यते।

† "तत्त्वाध्यारोपः" इति क्वचित् पाठः।

उद्वृत्ता गुरवश्च यस्य वप्रिनः श्यामायमानानना
योधा मारवधूस्तनाग्र न ददुः क्षोभं स वीड्याज्जिनः" ॥ ६ ॥ *

यथा च गौणस्यार्थस्य अलङ्कारत्वं, तथा लाक्षणिकस्यापि इति दर्शयितुमाह, ( ग )—

## सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः ॥ ८ ॥

बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्; तत्र सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिरसौ इति। ( त ) यथा—

"उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवञ्च निमिमील मुहूर्त्तात्" ॥ ७ ॥

---

वर्त्तन्ते इति सोष्माणः। व्रणाः शस्त्रक्षतानि नखक्षतानि च एषां सन्तीति व्रणिनः। विपक्षाणां शत्रूणां सपत्नीनाञ्च, हृदयं वक्षश्चेतश्च, प्रकर्षेण उन्मथ्नन्तीति तथोक्ताः। कर्कशाः क्रूराः कठिनाश्च। उद्वृत्ताः उद्धता उन्नताश्च। गुरवो महान्तः स्थूलाश्च। श्यामायमानानि अङ्कुरितश्मश्रुतया कचासङ्गेन वा, स्वभावेन च श्यामलायमानानि, आननानि मुखानि चूचुकानि च येषां ते तथोक्ताः। वप्रिनो यस्येति सम्बन्धः। अत्र यथासम्भवं गुणक्रिया द्रष्टव्याः। यद्यपि समुच्चयोऽत्र स्फुरति, तथाऽपि साधारण-विशेषणमहिम्ना आरोपः प्रतिपाद्यते इति श्लेषः ॥ ६ ॥

( ग ) वक्रोक्तिं वक्तुं सङ्गतिमुल्लिङ्घयति, यथा चेति।—यथा मुखचन्द्रादौ गुणयोगादागतस्य गौणार्थस्य रूपकाद्यलङ्कारता, तथा लक्षणातः प्रतिपन्नस्य लाक्षणिकार्थस्य वक्रोक्त्यलङ्कारता भवतीति लक्षणार्थः।

( त ) बहूनीति।—"अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः। वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥" इति लक्षणाया निमित्तानि द्रष्टव्यानि। हिरण्य-शब्दस्याभिधेयो भमरशब्द इति तेन स्वाभिधेयसम्बन्धात् भङ्गरूपार्थो लक्ष्यते। सिंहो माणवकः, गङ्गायां घोषः, बृहस्पतिरयं मूर्खः, महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्, इति यथा-क्रममुदाहरणानि द्रष्टव्यानि।

उन्मिमीलेति।—कमलं विचकास कैरवं सचुकोचेति ऋजुवृत्त्या वक्तव्ये तत्-सादृश्यादुन्मिमील निमिमीलेति नेवक्रियाऽध्यवसायवक्रिम्णोक्तिरिति वक्रोक्तिः ॥ ७ ॥

---

* "व्रणिनः" इत्यत्र "व्रणिताः" "वप्रिनः" इत्यत्र "शमिनः" "ददुः" इत्यत्र "दधुः" इति च पाठान्तराणि।

अत्र नेत्रधर्मौ उन्मीलननिमीलने साहश्यात् विकास-सङ्कोचौ लक्षयतः। (थ)

"इह च निरन्तरनवमुकुलपुलकिता हरति माधवी हृदयम्।
मदयति च केसराणां परिणतमधुगन्धि निःश्वसितम्" ॥ ८ ॥

अत्र च निःश्वसितमिति परिमलनिर्गमं लक्षयति। (द)

"संस्पर्शेन स्फुरतु सुभगः स्वार्चिषा चुम्बतु * द्याम्" ॥ ९ ॥

"आलस्यमालिङ्गति गात्रमस्याः" ॥ १० ॥

"परिम्लानच्छायामनुवदति दृष्टिः कमलिनीम्" ॥ ११ ॥

"प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः" ॥ १२ ॥

"ऊरुद्वन्द्वं तरुणकदलीकाण्डसब्रह्मचारि" ॥ १३ ॥

इत्येवमादिषु लक्षणार्थो निरूप्यते इति। लक्षणायां † झटिति अर्थप्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यम् आचक्षते इति। (ध)

असाहश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः। (न)

---

(थ) लक्ष्यलक्षणयोर्मैत्रीमासूत्रयति, अत्र नेत्रेति।—अतस्मिंस्तत्त्वाध्यारोपो रूपकम्। विषयनिगरणेन साध्यवसानलक्षणायां वक्रोक्तिरिति विवेकः।

उदाहरणान्तराण्युपदर्शयति—इह चेति ॥ ८ ॥

(द) वक्रोक्तिं दर्शयति, अत्र चेति।—सुकुलपुलकितेत्यत्र पुलकितत्वं साधव्या सुकुलैराहृतत्वं लक्षयतीत्यपि द्रष्टव्यम्।

(ध) चुम्बतु द्यामिति चुम्बनं द्यौसम्बन्धम्; गात्रमालिङ्गतीति आलिङ्गनम् आलस्यवैशिष्ट्यं गात्रस्य; अनुवदतीत्यनुवादः कमलिनीसाहश्यम्; मैत्री च आमोदसङ्क्रान्तिम्; सब्रह्मचारीति कदलीकाण्डसमानतां च लक्षयतीत्येवमादिषु प्रयोगेषु लक्षणार्थो निरूप्यते। लक्षणायामिति।—यत्र साहश्यलक्षणा सहृदय-हृदयेष्वविलम्बेन लक्ष्यार्थप्रतिपत्तिमुद्भावयितुं प्रगल्भते, तत्र वक्रोक्तिरलङ्कार इति रहस्यमिति लक्षणाविद आचक्षते इत्यर्थः।

(न) साहश्यपदव्यावर्त्यं कीर्त्तयति, असाहश्येति।—सम्बन्धान्तरनिबन्धना तु लक्षणा वक्रोक्तिर्न भवतीत्यर्थः।

---

* "चुम्बतु" इत्यत्र "चुम्बितुम्" इति पाठान्तरम्।

† "लक्षणायाम्" इत्यत्र "लक्षणायाः" इति पाठान्तरम्।

यथा—

"जरठकमलकन्दच्छेदगौरैर्मयूखैः" ॥ १४ ॥

अत्र च्छेदः सामीप्यात् (प) द्रव्यं लक्षयति। तस्यैव गौरत्वोपपत्तेः।

रूपकवक्रोक्तिभ्याम् उत्प्रेक्षाया भेदं दर्शयितुमाह, (फ)—

**अतद्रूपस्यान्यथाऽध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा ॥९॥**

अतद्रूपस्य अतत्स्वभावस्य, अन्यथा तत्स्वभावतया, अध्यवसानम् अध्यवसायः, न पुनरध्यारोपो लक्षणा वा। अतिशयार्थमिति भ्रान्तिज्ञाननिवृत्त्यर्थम्। सादृश्यादियमुत्प्रेक्षेति। एनाञ्च इवादिशब्दा द्योतयन्ति। (ब) यथा—

---

तदेव दर्शयति—यथा जरठेति ॥ १४ ॥

(प) सामीप्यमत्र धर्म्मधर्मिभावसम्बन्धः।

(फ) स्वरूपान्यथाभावकल्पनास्वभावत्वाविशेषेण रूपकवक्रोक्तिभ्यामुत्प्रेक्षाया अभेदशङ्कायां लक्षणतो भेदं दर्शयितुमनन्तरसूत्रमवतारयति—रूपकेति।

(ब) सूत्रार्थमाविष्करोति, अतद्रूपस्येति।—अतद्रूपं प्राकरणिकं वस्तु, तदात्मना अप्राकरणिकवस्तुरूपत्वेन, अतिशयमाधातुमध्यवसीयते प्रतिभावावेशेन कविना सम्भाव्यते, न पुनरिन्द्रियदोषेण, तथाविधं सम्भावनापरपर्य्यायमध्यवसानमुत्प्रेक्षेति लक्षणार्थः। न पुनरिति।—अतत्स्वभावस्य वस्तुनस्तद्गुणयोगात्तत्तद्भावकल्पनमध्यारोपः; यत्र रूपकादिस्वरूपलाभः। यत्तु सादृश्ये सत्येकेन वस्तुना वस्त्वन्तरस्य प्रतिपादनमध्यवसायरूपं सा सादृश्यमूला लक्षणा; यत्र वक्रोक्तित्व्यपदेशः। यत् पुनरतद्रूपे वस्तुन्यतिशयमाधातुं तद्रूपतयाऽध्यवसानं, सोऽयमध्यवसायः सम्भावनाल्लक्षण उत्प्रेक्षेति विवेकः। अतो न रूपकं, नापि वक्रोक्तिरिति ततो भेदो दर्शितः। अतिशयार्थमिति।—भ्रान्तिः विपर्य्ययज्ञानम्। अन्यथाऽध्यवसायत्वाविशेषेऽपि बुद्धिपूर्वकत्वादुत्प्रेक्षायास्तद्विलक्षणाया भ्रान्तेर्व्यावृत्तिरित्यतिशयः। उत्प्रेक्षोदाहरणेषु केषुचिदिवशब्दश्रवणात् कस्यचिदुपमाशङ्का जायते, तामाशङ्क्य परिहरति, सादृश्यादियमुत्प्रेक्षेति।—प्रयुक्तोऽपि क्वचिदिवशब्दः सादृश्यनिबन्धनत्वसूचनद्वारेणोत्प्रेक्षामपि द्योतयतीत्यर्थः। तदुक्तं दण्डिना,—"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः। उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः" ॥ इति।

"स व: पायादिन्दुर्नवविसलताकोटिकुटिल:
स्मरारेर्यौ मूर्द्ध्नि ज्वलनकपिशे भाति निहित:।
सवन्मन्दाकिन्या: प्रतिदिवससिक्तेन पयसा
कपालेनोन्मुक्त: स्फटिकधवलेनाङ्कुर इव" ॥ १५ ॥

उत्प्रेक्षैव अतिशयोक्तिरिति केचित्। (भ) तन्निरासार्थमाह,—

**सम्भाव्यधर्मस्य तदुत्कर्षकल्पनाऽतिशयोक्ति: ॥१०॥**

सम्भाव्यस्य धर्मस्य तदुत्कर्षस्य च कल्पना अतिशयोक्ति:। (म)

यथा—

"उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशगङ्गापयस: पतेताम्।
तदीपमौर्वेत तमालनीलमामुक्तमुक्ताफलतमस्य वक्त्र:" ॥ १६ ॥

यथा वा—

"मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिता:
सिततरदन्तपचक्रतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुका:।
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गता:
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिका:" ॥ १७ ॥

---

स व: पायादिति।—अत्र नवविसलताकोटिकुटिल इति विशेषणसामर्थ्यादिन्दुपदेनेन्दुकलाऽवगम्यते। इन्दुर्मन्दाकिनीसलिलसेकेन कपालाद्विन्नोऽङ्कुर इवेत्युत्प्रेक्ष्यते इत्युत्प्रेक्षाऽलङ्कार: ॥ १५ ॥

(भ) सम्भावनारूपत्वाविशेषादुत्प्रेक्षाऽतिशयोक्त्योरभेदं केचिन्मन्यन्ते; तन्मतं निरसितुं लक्षणभेदं दर्शयतीत्याह—उत्प्रेक्षैवेति।

(म) सम्भाव्यस्येति।—सम्भाव्यस्य उत्प्रेक्ष्यस्य धर्मस्य यद्यर्थानुबन्धेन कल्पना, तदुत्कर्षस्य तस्य सम्भाव्यधर्मस्य य उत्कर्षस्तस्य कल्पना चातिशयोक्ति:।

उदाहरति, उभाविति।—यदि तथाविधं व्योम सम्भाव्येत, तदैव आमुक्तमुक्ताफलस्य वक्त्रस्य उपमानं भवेत्, न पुनरन्यत् किञ्चिदित्यतिशयस्योक्तेरतिशयोक्ति:। एवं सम्भाव्यधर्मकल्पनामुदाहृत्य तदुत्कर्षकल्पनामुदाहरति, मलयजेति।—मलयजरसनवहारलतादीनां तावान् धावल्यस्योत्कर्षोऽतिशय: क्रियते, यावता चन्द्रिकायां तद्विवेचनाच्चमत्वं चक्षुषोरिति ॥ १६—१७ ॥

यथा भ्रान्तिज्ञानस्वरूपोत्प्रेक्षा, तथा संशयज्ञानस्वरूपः सन्देहोऽपीति दर्शयितुमाह, ( य )—

## उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः ॥ ११ ॥

उपमानोपमेययोरतिशयार्थं यः क्रियते संशयः, स सन्देहः। (र)

यथा—

"इदं कर्णोत्पलं चक्षुरिदं वेति विलासिनि !।
न निश्चिनोति हृदयं किन्तु दोलायते मनः" * ॥ १८ ॥

सन्देहवत् विरोधोऽपि प्राप्तावसर इत्याह, ( ल )—

## विरुद्धाभासत्वं विरोधः ॥ १२ ॥

अर्थस्य विरुद्धस्येव आभासत्वं विरुद्धाभासत्वं विरोधः। (व)

यथा ( श )—

"पीतं पानमिदं त्वयाऽद्य दयिते ! मत्तं ममेदं मनः
पद्मालो तव कुङ्कुमेन रचिता रक्ता वयं मानिनि !।

---

( य ) यथा लौकिकसमसजातीयासुत्प्रेक्षामतिशयार्थकल्पनात्वैधर्म्येण लौकिकभ्रान्तितः पृथक्कृत्य प्रदर्शितवान्, तथा संशयमपि लौकिकसजातीयं तथाविधेन वैधर्म्येण ततः पृथक्कृत्य दर्शयितुमाह—यथेति।

( र ) सन्देहस्य कोटिद्वयावलम्बित्वादिहापि तदाह—उपमानोपमेययोरिति। अतिशयार्थमिति।—उपमेये अतिशयमाधातुं सन्देहः सम्पाद्यते, न तु विशेषादर्शनादित्यर्थः।

इदमिति।—व्यक्तमुदाहरणम् ॥ १८ ॥

( ल ) कल्पनारूपत्वाविशेषादतिशयोक्तेरनन्तरं यथा सन्देहालङ्कारः प्राप्तावसरः, तथा विरुद्धकोटिद्वयावलम्बिनः सन्देहस्यानन्तरं विरोधालङ्कारः प्राप्तावसर इति तल्लक्षणं दर्शयतीत्याह—सन्देहवदिति।

( व ) व्याचष्टे, अर्थस्येति।—विरुद्धवद्भवभासते इति विरुद्धाभासस्तस्य भावः स्वत्वम्। प्रकारान्तरेण परिहारे सत्येव विरुद्धस्यार्थस्यावभासनं विरोधालङ्कारः।

( श ) उदाहरति—यथेति।

पीतमिति।—पानशब्दोऽत्र कर्मसाधनः पेयद्रव्यमाह। पानादीनां मदादीनाञ्च

---

* "मनः" इत्यत्र "पुनः" इति पाठान्तरम्।

त्वं तुङ्गस्तनभारमन्थरगतिर्गात्रेषु मे वेपथु-
स्तन्मध्ये तनुता ममाधृतिरहो ! मारस्य * चित्रा गतिः" ॥ १९ ॥

यथा वा—

"सा बाला वयसप्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते सखेदा वयम् ।
साऽऽक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं
दीर्घैरन्यजनायितैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम्" ॥ २० ॥

विरोधादिभावनाया भेदं दर्शयितुमाह, ( ष )—

**क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना ॥ १३ ॥**

क्रियायाः प्रतिषेधे तस्या एव क्रियायाः फलस्य प्रसिद्धस्य व्यक्तिर्विभावना । ( स ) यथा—

"अप्यसज्जनसाङ्गत्ये न वसत्येव वैकृतम् ।
अचालितविशुद्धेषु हृदयेषु मनीषिणाम्" ॥ २१ ॥

विरोधप्रसङ्गेन अनन्वयं दर्शयितुमाह, ( ह )—

**एकस्योपमेयत्वोपमानत्वेऽनन्वयः ॥ १४ ॥**

---

त्रेयधिकरण्यादिरोधः । मदादीनामर्थान्तरत्वस्वीकारेण विरोधपरिहारः । सेति ।—सा बालेत्यादावपि विरुद्धाभासत्वं द्रष्टव्यम् ॥ १९—२० ॥

( ष ) विभावनां विवरीतुमवतारिकामारचयति—विरोधादिति ।

( स ) लक्षणवाक्यार्थं विवृणोति, क्रियाया इति ।—क्रियायाः कारणरूपायाः, प्रतिषेधे प्रसिद्धस्य तस्याः क्रियायाः फलस्य कार्यभूतस्य, व्यक्तिः प्रकाशनं यत्, सा विभावनेति वाक्यार्थः । विरोधविशेषो विभावनेति भेदः ।

अप्यसज्जनेति ।—विकृतमेव वैकृतम् । [ प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् ] । अचालित-त्रिशुद्धेष्वित्यत्र कारणरूपचालनक्रियाप्रतिषेधेऽपि तत्फलभूताया विशुद्धेः प्रकाशनात् विभावना ॥ २१ ॥

( ह ) अनन्वयं वक्तुमाह—विरोधेति ।

---

* "मारस्य चित्रा गतिः" इत्यत्र "मेरुर्मे चित्रा गतिः" इति पाठान्तरम् ।

एकस्यैव अर्थस्योपमेयत्वम् उपमानत्वञ्च अनन्वयः । ( क ) यथा—

"गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव" ॥ २२ ॥

अन्यासादृश्यम् * एतेन प्रतिपादितम् । ( ख )

## क्रमेणोपमेयोपमा ॥ १५ ॥

एकस्यैव अर्थस्योपमेयत्वम् उपमानत्वञ्च क्रमेण उपमेयोपमा । ( ग ) यथा—

"खमिव जलं जलमिव खं हंस इव शशी शशीव हंसोऽयम् ।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि" ॥ २३ ॥

इयमेव परिवृत्तिरित्येके । ( घ )

तन्निरासार्थमाह,—

## समविसदृशाभ्यां परिवर्त्तनं परिवृत्तिः ॥१६॥

---

( क ) एकस्यैवार्थस्यैकस्मिन्नेव वाक्ये उपमानान्तरव्युदासेनातिशयमाधातुमुपमानत्वञ्चोपमेयत्वञ्चोपकल्प्यते । तत्र व्यधिकरणयोर्धर्मयोरुपमानत्वोपमेयत्वयोरेकत्वान्वयासम्भवादनन्वयालङ्कारः ।

गगनमिति ।—रामरावणयोरिति स्पष्टम् ॥ २२ ॥

( ख ) एकस्यैवोपमानोपमेयत्वकल्पनायां फलितमाह, अन्येति ।—उपमानान्तरेण असादृश्यं सादृश्याभावः ।

( ग ) उपमेयोपमामुपपादयितुमुपरितनं सूत्रमुपादत्ते, क्रमेणेति ।—एकस्यैवेत्यनुवर्त्तते । यत्र क्रमेण वाक्यद्वये एकस्यैव वस्तुन उपमानत्वमुपमेयत्वञ्च निबध्यते तत्रोपमेयोपमा ।

खमिवेति ।—उदाहरणं स्पष्टम् ॥ २३ ॥

( घ ) साम्यशङ्कायामुपमेयोपमातः परिवृत्तिं व्यावर्त्तयितुं लक्षणं दर्शयतीत्याह—इयमेवेति ।

---

* "अनन्यसादृश्यम्" इति पाठान्तरम् ।

समेन विसदृशेन वा अर्थेन अर्थस्य परिवर्त्तनं परिवृत्तिः। ( ङ )

यथा (च)—

"आदाय कर्णकिसलयमियनम्रं चरणसरणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादन्योन्यमवञ्चितं मन्ये" ॥ २४ ॥

यथा वा—

"विहाय सा हारमहार्यनिश्चया विलोलदृष्टिः प्रविलुप्तचन्दना।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति" ॥ २५ ॥

उपमेयोपमायाः क्रमो भिन्नः इति दर्शयितुमाह, ( छ )—

## उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्धः क्रमः ॥१७॥

उपमेयानाम् उपमानानाञ्च उद्देशिनाम् अनूद्देशिनाञ्च क्रमेण सम्बन्धः क्रमः। ( ज ) यथा—

"तस्याः प्रबन्ध * लीलाभिरालापस्मितदृष्टिभिः।
जीयन्ते वल्लकीकुन्दकुसुमेन्दीवरस्वनः" ॥ २६ ॥

---

( ङ ) व्याचष्टे, समेनेति।—समेन समानेन, विसदृशेन असदृशेन वा, अर्थेन अर्थस्य यत् परिवर्तनं विनिमयः, सा परिवृत्तिः।

( च ) उदाहरति—यथेति।

आदायेति।—अत्र प्रसारिताख्यं करणं सूचितमिति केचिदाचक्षते। "नायकस्यांस एको द्वितीयः प्रसारित इति प्रसारितकम्" इति वात्स्यायनसूत्रम्। तद्विवृतं रतिरहस्ये, —"प्रियस्य वचोऽसतलं शिरोऽथवा नयेत सव्यं चरणं निताम्बतः। प्रसारयेद्वा परमायतं पुनर्विपर्ययः स्यादिति हि प्रसारितम्" ॥ इति। अत्र चरणकिसलययोः सादृश्यात् समपरिवृत्तिः। विहायेत्यादौ हारवल्कलयोर्वैसादृश्यादिसदृशपरिवृत्तिः ॥ २४—२५ ॥

( छ ) क्रमालङ्कारं कथयितुमाह—उपमेयेति।

( ज ) वृत्तिः स्पष्टार्था।

तस्या इति।—प्रबन्धेनाविच्छेदेन लीला यासां ताभिः प्रबन्धलीलाभिः ॥ २६ ॥

---

* "प्रबन्ध" इत्यत्र "प्रहृद्ध" इति पाठान्तरम्।

क्रमसम्बन्धप्रसङ्गेन एव दीपकं दर्शयितुमाह, ( झ )—

**उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम् ॥१८॥**

उपमानवाक्येषु उपमेयवाक्येषु चैका क्रिया अनुषङ्गतः सम्बध्यमाना दीपकम् । ( ञ )

**तत्त्रिविधम्, आदिमध्यान्तवाक्यवृत्तिभेदात् ॥१९॥**

तत् त्रिविधं भवति, आदिमध्यान्तेषु वाक्येषु वृत्तेर्भेदात् । (ट) यथा—

"मूष्यन्ते प्रमदवनानि बालपुष्पैः कामिन्यो मधुमदमांसलैर्विलासैः ।
ब्रह्माणः श्रुतिगदितैः क्रियाकलापैः राजानो विरलितवैरिभिः प्रतापैः" ॥ २७ ॥

"वाष्पः पथिककान्तानां जलं जलमुचां मुहुः ।
विगलत्यधुना दण्ड्यान्नोद्योगो महीभुजाम्" ॥ २८ ॥

"गुरुशुश्रूषया विद्या मधुगोष्ठ्या मनोभवः ।
उदयेन प्रशान्तस्य पयोधिरभिवर्द्धते" * ॥ २९ ॥

दीपकवत् निदर्शनमपि सङ्क्षिप्तमित्याह, ( ठ )—

**क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम् ॥२०॥**

क्रिययैव शुद्धया स्वस्य आत्मनः तदर्थस्य च अन्वयस्य

---

( झ ) क्रमदीपकयोः सौहार्दमुन्मुद्रयन् सूत्रमवतारयति—क्रमेति ।

( ञ ) व्याचष्टे, उपमानेति ।—एकस्यैव प्रधानसम्बन्धितया सकृदुपात्तस्य पदस्य वाक्यान्तरेषु प्रसङ्गात् सम्बन्धोऽनुषङ्गः ।

( ट ) तद्भेदमाह—तत्त्रिविधमिति ।

मूष्यन्ते इति ।—अत्र आदिदीपकम् । ब्रह्माणः ब्राह्मणाः । वाष्प इति ।—अत्र मध्यदीपकम् । गलनं वाष्पजलयोः स्यन्दः, दण्ड्यान्नोद्योगे नाशः । गुरुशुश्रूषयेति ।—अत्र अन्तदीपकम् । एवमेव कारकदीपकमप्यूहनीयम् ॥ २७—२९ ॥

( ठ ) निदर्शनं दर्शयितुमाह—दीपकवदिति ।

---

* "विद्या" इत्यत्र "बुद्धिः" तथा "पयोधिरभिवर्द्धते" इत्यत्र "पयोराशिर्विवर्द्धते" इति पाठान्तरद्वयम् ।

सम्बन्धस्य ख्यापनं संलुलितहेतुदृष्टान्तविभागदर्शनात् * निदर्शनम्। (ङ) यथा—

"अत्युच्चपदाध्यासः पतनायेत्यर्थशालिनां शंसत्।
आपाखु पतति पवं तरीरिदं बन्धनग्रन्थेः" ॥ ३० ॥

पततीति क्रिया। तस्याः स्वं पतनम्। तदर्थोऽत्युच्चपदाध्यासः पतनायेति शंसनम्†। तस्य ख्यापनम् अर्थशालिनां शंसदिति। (ढ)

इदञ्च न अर्थान्तरन्यासः। स हि अन्यथाभूतः‡। (ण) तमाह,—

**उक्तसिद्धेर्वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः ॥ २१ ॥**

---

(ङ) शुद्धया अनन्यसहायया, क्रिययैवाहत्तिरहितयेत्यर्थः। स्वस्य तदर्थस्य सा क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तदर्थं स्वप्रयोजनकमर्थान्तरमित्यर्थः, तयोः स्वतदर्थयोरन्वयस्य सम्बन्धस्य, ख्यापनं निदर्शनम्। निदर्शनपदार्थं निर्वक्ति, संलुलितेति।—संलुलितः अविवेचितः, हेतुदृष्टान्तयोर्विभागस्तस्य दर्शनादविवेचनात्, निगूढहेतुदृष्टान्तदर्शनरूपत्वान्निदर्शनमित्यर्थः।

उदाहरति, अत्युच्चेति।—अर्थशालिनाम् अर्थोल्लेखशालिनां धनशालिनां वा ॥ ३० ॥

(ढ) लक्ष्यलक्षणयोरानुकूल्यमुन्मीलयति—पततीति क्रियेति।

(ण) अर्थान्तरन्यासं समर्थयितुं सूत्रसङ्गतिं सूचयति—इदञ्चेति।

---

* "संलुलितहेतुदृष्टान्तविभागदर्शनात्" इत्यत्र "संवलितहेतुदृष्टान्तविभागम्" इति पाठान्तरम्।

† "पतनायेति शंसनम्" इत्यत्र "तयोरन्वयः अत्युच्चपदाध्यासः पतनायेति" इति पाठान्तरम्।

‡ "स तु यथाभूतः" इति पाठान्तरम्।

उक्तसिद्ध्यै उक्तस्य अर्थस्य सिद्ध्यर्थं वस्तनो वाक्यार्थान्तरस्यैव न्यसनम् अर्थान्तरन्यासः। वस्तुग्रहणात् अर्थस्य * हेतोर्न्यसनं न अर्थान्तरन्यासः। (त) यथा—

"इह नातिदूरगोचरमस्ति सरः कमलसौगन्ध्यात्" इति। (थ)

अर्थान्तरस्यैव इति वचनं यत्र हेतुर्व्याप्तिगूढत्वात् कथञ्चित् प्रतीयते, तत्र यथा स्यात्। "यद्यत् कृतकं, तत्तदनित्यम्" इत्येवंप्रायेषु मा भूदिति। (द)

उदाहरणम्, (ध)—

"प्रियेण संगम्य विपत्तसन्निधावुपाहितां वत्सि पीवरस्तने।
स्वनं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि" ॥ ३१ ॥

अर्थान्तरन्यासस्य हेतुरूपत्वात्, हेतोश्च अन्वयव्यतिरेकात्मकत्वात् न पृथक् † व्यतिरेक इति कैश्चित्। (न)

तन्निरासार्थम् आह,—

---

(त) उक्तस्य वाक्यार्थस्य सिद्ध्यै। वाक्यार्थान्तरस्य अन्यस्य वाक्यार्थस्यैव। वस्तुग्रहणप्रयोजनं प्रस्तौति—वस्त्विति।

(थ) प्रत्युदाहरणं प्रदर्शयति, यथेति।—अत्र कमलसौगन्ध्यादिति हेतोः पदार्थरूपत्वात् तस्य न्यसनं नार्थान्तरन्यासः।

(द) अवधारणप्रयोजनमभिधत्ते, अर्थान्तरस्यैवेति वचनमिति।—यत्र वस्तुतो हेतुरूपमेवार्थान्तरं तद्व्याप्तिस्तु यत्नगौरवेण प्रतीयते, तत्रालङ्कारता यथा स्यात्, प्रसिद्धव्याप्तिस्थले तु मा भूदित्येवमर्थमेवकारकरणमित्यर्थः।

(ध) उदाहर्तुमाह—उदाहरणमिति।

प्रियेणेति।—अत्र विशेषरूपमुपमेयं सामान्येनोपमानेन समर्थ्यते ॥ ३१ ॥

(न) अर्थान्तरन्यासव्यतिरेकयोर्भेदं दर्शयितुमभेदशङ्कामुन्मीलयति—अर्थान्तरेति।

---

* "अर्थस्य" इत्यत्र "पदार्थस्य" इति पाठान्तरम्।

† "न पृथक्" इत्यत्र "न ततः पृथक्" इति कुत्रचित् पाठः।

## उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः ॥ २२ ॥

उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं गुणाधिक्यं यत् अर्थादुपमानात्, स व्यतिरेकः। (प) यथा—

"सत्यं हरिणशावाक्ष्याः प्रसन्नसुभगं मुखम्।
समानं शशिनः किन्तु स कलङ्कविडम्बितः" ॥ ३२ ॥

**कश्चित्तु गम्यमानगुणो व्यतिरेकः। यथा—**

"कुवलयवनं प्रत्याख्यातं नवं मधु निन्दितं
हसितममृतं भग्नं स्वादोः पदं रससम्पदः।
विषमुपहितं चिन्ताव्याजान्मनस्यपि कामिनां
चतुरललितैः * लीलातन्त्वैस्त्वदार्द्रविलोकितैः" ॥ ३३ ॥

**व्यतिरेकाद्विशेषोक्तेर्भेदं दर्शयितुमाह, (फ)—**

---

(प) व्याचष्टे, उपमेयस्येति।—गुणशब्दोऽत्र धर्ममात्रवचनः, स च वाच्यो गम्यश्चेति द्विविधः। उभयोऽप्युपमानगतस्तदपकर्षहेतुः उपमेयगतस्तदुत्कर्षहेतुश्चेति द्विविधो भवति। यदा उपमानगतस्तेन तदपकर्षहेतुना गुणेनोपमेयस्य गुणातिरेकित्वमर्थाद्भवति, तदा गुणातिरेकित्वनार्थम्; यदा पुनरुपमेयगतस्तदा तेन तदुत्कर्षहेतुना अर्थादुपमानादुपमेयस्य गुणातिरेकित्वं भवति, तदा शाब्दमतिरेकित्वम्।

तत्रोपमानगतवाच्यगुणप्रयुक्तं व्यतिरेकमुदाहरति, सत्यमिति।—अत्र कलङ्कविडम्बितपदवाच्येनोपमानस्यापकर्षहेतुना कलङ्कित्वगुणेनोपमेयस्यार्थात्कलङ्कित्वलक्षणं गुणातिरेकित्वमिति व्यतिरेकः। उपमानगतगम्यमानगुणप्रयुक्तं व्यतिरेकमुदाहरति, कुवलयवनमिति।—कुवलयवनमध्यादिषु प्रत्याख्याननिन्दनादिभिरवगम्यमानेन निकर्षहेतुना चतुरललितलीलातन्त्वत्वराहित्यलक्षणेन गुणेनार्द्रविलोकितेषु चतुरललितलीलातन्त्वत्वरूपं गुणातिरेकित्वं शाब्दमपि प्रकृष्टतया प्रतिष्ठापितं भवतीति गम्यमानगुणप्रयुक्तो व्यतिरेकः। अर्थान्तरन्यासे व्यतिरेको विपक्षव्यावृत्तिः, अत्र तु गुणाधिक्यमिति भेदः ॥ ३२—३३ ॥

(फ) विशेषोक्तिं विवेक्तुमाह—व्यतिरेकादिति।

---

* "चतुरललितैः" इत्यत्र "चतुरमधुरैः" इति पाठान्तरम्।

**एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः ॥ २३ ॥**

एकस्य गुणस्य हानेः कल्पनायां शेषैः गुणैः साम्यं यत्, तस्य दार्ढ्यं विशेषोक्तिः। रूपकञ्चेदं प्रायेण इति। (ब) यथा—

"भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः"।

"द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्"।

"इयं ह्यकमला * लक्ष्मीः"।

"हस्ती हि जङ्गमं दुर्गम्"। इति ॥ २४ ॥

अत्रापि जङ्गमशब्दस्य स्थावरत्वनिवृत्तिप्रतिपादनपरत्वात् एकगुणहानिकल्पना एव। एतेन (भ)—

"वेश्या हि नाम मूर्त्तिमत्येव निष्कृतिः"।

"व्यसनं हि नाम सोच्छ्वासं मरणम्"।

"द्विजो भूमिबृहस्पतिः"।

इत्येवमादिषु एकगुणहानिकल्पना व्याख्याता। (म)।

व्यतिरेकविशेषोक्तिभ्यां व्याजस्तुतिं भिन्नां दर्शयितुमाह, (य)—

---

(ब) एकस्येति।—अर्थादुपमेयगतस्य। हानिः लोपः। अवज्ञनीयतया रूपकमपि सम्भवतीत्याह—रूपकमिति।

भवन्तीत्यादि।—अतैलपुरा इति, असिंहासनमिति, अकमलेत्यनेकगुणहानिकल्पना सिध्यति ॥ २४ ॥

(भ) ननु जङ्गममित्येकगुणहानिकल्पनाया अप्रतीतेः कथं विशेषोक्तिरिति तत्राह—अत्रापि जङ्गमशब्दस्येति। समर्थितामेकगुणहानिकल्पनामन्यत्रातिदिशति—एतेनेति।

(म) ("कुस्तुतिर्निष्कृतिः ज्ञाप्यम्" इत्यमरः)। मूर्त्तिमत्येवेत्यत्रामूर्त्तत्वनिवृत्तिः, सोच्छ्वासमित्यत्रानुच्छ्वासतानिवृत्तिः, भूमिबृहस्पतिरित्यत्राभौमत्वनिवृत्तिश्च प्रतिपाद्यते इत्येकगुणहानिकल्पना अवगन्तव्या।

(य) व्याजस्तुतिं व्याख्यातुं प्रसङ्गं परिकल्पयति—व्यतिरेकेति।

---

* "निद्रेयमकमला" इति पाठान्तरम्।

**सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दा स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः ॥ २४ ॥**

अत्यन्तगुणाधिको विशिष्टः, तस्य च कर्म विशिष्टकर्म, तस्य सम्भाव्यस्य कर्त्तुं शक्यस्य अकरणान्निन्दा विशिष्टसाम्यसम्पादनेन स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः। ( र ) यथा—

"बबन्ध सिन्धुं * गिरिचक्रवालैर्विभेद मर्मैकशरेण तालान्।
एवंविधं कर्म ततान रामस्त्वया कृतं तन्न सुधैव गर्वः" ॥ २५ ॥

व्याजस्तुतेर्व्याजोक्तिं भिन्नां दर्शयितुमाह, ( ल )—

**व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः ॥ २५ ॥**

व्याजस्य कृत्स्नः सत्येन सारूप्यं व्याजोक्तिः, यां मायोक्तिरित्याहुः। ( व ) यथा—

"शरच्चन्द्रांशुगौरेण वाताविद्धेन भामिनि!।
काशपुष्पलवेनेद साश्रुपातं मुखं कृतम्" ॥ २६ ॥

---

( र ) व्याचष्टे, अत्यन्तेति।—विशिष्टो रामादिरुपमानभूतस्तस्य कर्म सेतुबन्धनादि, तस्य कर्त्तुं शक्यस्य कर्मणोऽकरणादवर्णनीयस्य निन्दा रामादिसाम्यापादनात् स्तुतिपर्य्यवसायिनी व्याजस्तुतिः।

बबन्धेति।—त्वं राम एवासीति तात्पर्य्यम्। निन्दाव्याजेन स्तुतिरूपत्वात् व्यतिरेकविशेषोक्तिभ्यां भेदः ॥ २५ ॥

( ल ) व्याजोक्तिं व्याकर्त्तुमाह—व्याजस्तुतेरिति।

( व ) व्याचष्टे, व्याजस्येति।—असत्यस्येत्यर्थः। सत्येन यथार्थेन। सारूप्यं सत्यत्वकल्पनया समुन्मिषितं सादृश्यम्। असत्यस्य सत्यत्ववचनं व्याजोक्तिरिति लक्षणार्थः। व्याजोक्तिमिमां मतान्तरे संज्ञान्तरेण व्यवहरन्ति, न तु स्वरूपभेद इत्याह—यामिति।

उदाहरति, शरदिति।—चन्द्रांशुगौरेणेत्यनेन चन्द्रिकायां काशपुष्पलवस्याविवेचनीयता सूचिता। वाताविद्धेनेत्यनेन अप्रसक्तिशङ्का निराकृता। अत्र सत्येन सात्त्विकभावेन कृतोऽश्रुपातः पुष्पलवेन कृत इत्यसत्यस्य सत्यतोक्तिः, अत एव व्याजस्तुतितो भेदः ॥ २६ ॥

---

* "सिन्धुम्" इत्यत्र "सेतुम्" इति पाठान्तरम्।

व्याजस्तुतेः पृथक् तुल्ययोगितेति आह, ( श )—

**विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता ॥ २६ ॥**

विशिष्टेन न्यूनस्य साम्यार्थम् एककालायां क्रियायां योगस्तुल्ययोगिता। ( ष ) यथा—

"जलनिधिरशनामिमां धरित्रीं वहति सुजङ्घविसुभंवद्भुजश्च"। ३७ ॥

**उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः ॥ २७ ॥**

उपमानस्य आक्षेपः प्रतिषेध उपमानाक्षेपः। तुल्यकार्य्यार्थस्य नैरर्थक्यविवक्षायाम् आक्षेपः *। ( स ) यथा—

"तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना ?
सौन्दर्य्यस्य पदं दृशौ च यदि चेत् किं नाम नीलोत्पलैः ?।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्यं तदाधरे ?
हा धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनाऽऽरम्भेष्वपूर्वो ग्रहः" † ॥ ३८ ॥

**उपमानस्याक्षेपः आक्षेपतः ‡ प्रतिषेधात्तरित्यपि सूत्रार्थः। (ह)**

---

( श ) तुल्ययोगितां वक्तुमाह—व्याजस्तुतेः पृथागति।

( ष ) विशिष्टेन गुणाधिकेनोपमानेनेति यावत्। अर्थादत्र न्यूनस्येत्यनेनोपमेयस्येत्यवगम्यते। एकः कालो यस्याः सा एककाला तस्यां क्रियायां साम्यार्थं यो योगः, सा तुल्ययोगिता।

उदाहरति—जलनिधीति ॥ ३७ ॥

( स ) आक्षेपं लक्षयितुं सूत्रमुपक्षिपति, उपमानेति।—उपमानस्य तादृशि उपमेये सति नैरर्थक्यविवक्षायां प्रतिषेध आक्षेप इति वाक्यार्थः।

तस्याश्चेन्मुखमित्युदाहरणम् ॥ ३८ ॥

( ह ) चकारेण समुच्चितमर्थमाह, उपमानस्याक्षेप इति।—आक्षेपोऽत्राकर्षणम्।

---

* क्वचित् "आक्षेपः" इति पाठो न दृश्यते।

† "दृशौ च यदि चेत्" इत्यत्र "दृशौ यदि च ते" इति तथा "तदाधरे" इत्यत्र "बिम्बाधरे" इति पाठान्तरे।

‡ "उपमानस्य आक्षेपतः" इति क्वचित् पाठः।

यथा—

"ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार" ॥ २९ ॥

अत्र शरद्येव, इन्दुं नायकमिव, रवेः प्रतिनायकस्येव इत्युपमानानि गम्यन्ते इति । ( क )

तुल्ययोगितायाः सहोक्तेर्भेदमाह, ( ख )—

**वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः ॥ २८ ॥**

वस्तुद्वयस्य क्रिययोस्तुल्यकालयोः एकेन पदेन अभिधानं सहार्थशब्दसामर्थ्यात् सहोक्तिः । ( ग ) यथा—

"अस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संक्रियन्तां बलानि" ॥ ४० ॥

अत्रार्थयोर्न्यूनत्वविशिष्टत्वे न स्त इति नेयं तुल्ययोगितेति । ( घ )

समाहितम् एकमवशिष्यते, तल्लक्षणार्थमाह, ( ङ )—

**यत्सादृश्यं तत्सम्पत्तिः समाहितम् ॥ २९ ॥**

यस्य वस्तुनः सादृश्यं गम्यते, तस्य वस्तुनः सम्पत्तिः समाहितम् । ( च ) यथा—

---

ऐन्द्रं धनुरित्युदाहरणम् ॥ २९ ॥

( क ) अत्राक्षेपलभ्य प्रकटयति—अत्र शरदिति ।

( ख ) सहोक्तिं वक्तुमाह—तुल्ययोगितायाः इति ।

( ग ) वस्तुद्वयसम्बन्धिनोः क्रिययोः सहार्थानां सहशब्दपर्य्यायाणां सहशब्दसामर्थ्यादेकेन पदेनाभिधानं सहोक्तिः ।

अस्तमिति ।—स्पष्टमुदाहरणम् ॥ ४० ॥

( घ ) उभयोरलङ्कारयोर्भेदं दर्शयति—अत्रेति ।

( ङ ) समाहितं समीक्षयितुमाह, समाहितमिति ।—शुद्धेष्वलङ्कारभेदेषु समाहितमेकं लक्षयितुमवशिष्यते इत्यर्थः ।

( च ) यस्येति ।—तस्य सम्पत्तिस्तदाकारतापरिणतिः, तादृश्यसम्पत्तिरिति यावत् ।

"तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाम्बुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विस्रान्तपुष्पोद्गमा।
चिन्तामौन * मिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मानवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा" ॥ ४१ ॥

अत्र पुरूरवसो लतायामुर्वश्याः सादृश्यं गच्छतः सैव लतोर्वशी सम्पन्नेति। (छ)

एते चालङ्काराः शुद्धा मिश्राश्च प्रयोक्तव्या इति विशिष्टानामलङ्काराणां मिश्रत्वं संसृष्टिरित्याह, (ज)—

**अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं संसृष्टिः ॥३०॥**

अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं † यत्, असौ संसृष्टिरिति। संसृष्टिः संसर्गः सम्बन्ध इति (झ)।

**तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षाऽवयवौ ॥ ३१ ॥**

---

अत्रोदाहरणं विक्रमोर्वशीये दर्शयितुमाह, तन्वीति।—लतायामुर्वशीसादृश्यं पश्यतः पुरूरवस इयमुक्तिः ॥ ४१ ॥

(छ) अत्रेति।—लतामवलोक्य तवाम्बुधौताधरत्वाभरणशून्यत्वचिन्तामौनाश्रितत्वाध्यवसायेन सा तादृश्युर्वशीवेत्युत्प्रेक्षमाणस्य पुरूरवसः सैव लतोर्वशी सम्पन्नेति लताया उर्वशीत्वसम्पत्तेः सम्भवात् समाहितम्। समनन्तरक्षणभाविन्येऽपि तत्सम्पत्तेर्लक्ष्ये तादात्विकत्वाभिमानं सूचयितुं भूतप्रत्ययः।

(ज) शुद्धालङ्कारनिरूपणोपसंहारव्याजेन मिश्रालङ्कारनिरूपणाय प्रसङ्गं प्रस्तौरयति, एते चेति।—शुद्धाः पूर्वं लक्षिताः। मिश्राः संसृष्टिभेदाः। शुद्धा इव मिश्रा अप्यलङ्काराः प्रयोगयोग्याः, श्रीभातिशयहेतुत्वादिति भावः। इतिशब्दो हेतौ। विशिष्टानामलङ्काराणाम् अलङ्कारविशेषाणाम्।

(झ) संसृष्टेर्लक्षणमाह, अलङ्कारस्येति।—कार्यकारणभावापन्नयोरलङ्कारयोः सम्बन्धः संसृष्टिरित्यर्थः।

---

* "चिन्तामौन—" इत्यत्र "चिन्तामोह—" इति पाठान्तरम्।

† मूलहस्तीकृतयोरपि "अलङ्कारयोगित्वम्" इति पाठान्तरम्।

तस्याः संसृष्टेर्भेदावुपमारूपकञ्चोत्प्रेक्षाऽवयवश्चेति (ञ)।

## उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकम् ॥३२॥ (ट)

यथा (ठ)—

"निरवधि च निराश्रयञ्च यस्य स्थितमनिवर्त्तितकौतुकप्रपञ्चम्।
प्रथम इव भवान् स कूर्ममूर्त्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥ ४२ ॥

एवं "रजनिपुरन्ध्रीभ्रातिलकः" * इत्येवमादयस्तद्भेदा द्रष्टव्याः (ड)।

## उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षाऽवयवः ॥ ३३ ॥

उत्प्रेक्षाया हेतुरलङ्कार उत्प्रेक्षाऽवयवः। अवयवशब्दो हि आरम्भकं लक्षयति। (ढ) यथा—

"अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी" ॥ ४३ ॥

---

(ञ) संसृष्टावभागं दर्शयितुं सूत्रमनुभाषते, तद्भेदाविति।—अलङ्कारयोनित्वमित्यत्र यथाक्रमं बहुव्रीहितत्पुरुषाश्रयणेन द्वौ भेदौ भवतः,—उपमारूपकमुत्प्रेक्षाऽवयवश्चेति।

(ट) तत्राद्यं लक्षयितुं सूत्रमुपक्षिपति—उपमाजन्यमिति।

(ठ) सूत्रमिदं निगदव्याख्यानमित्यभिसन्धाय उदाहरणं दर्शयति—यथेति।

निरवधीति।—नन्वत्र कूर्मसूर्त्तेः कन्दत्वारोपाल्लोकानां वल्लित्वारोपश्च वक्तुं युक्तम्। तथा च रूपकजन्यमिह रूपकमिति वक्तव्यम्। यन्मतान्तरे परस्परितरूपकमित्युच्यते, तत् कथमिदमुपमाजन्यं रूपकमिति चेत्, सत्यम्; लोकौ वल्लिरिव लोकवल्लिः। [व्याघ्रादेराकृतिगणत्वादुपमितसमासः]। लोकवल्ल्याः कन्द इति कूर्मसूर्त्तौ कन्दत्वारोपणमिह यत्प्रकृतौ विवक्षितमिति न दोषः ॥ ४२ ॥

(ड) इत्यमेव रजनिपुरन्ध्रीत्यादावपि द्रष्टव्यम्।

(ढ) उत्प्रेक्षावयवं लक्षयितुमाह—उत्प्रेक्षाहेतुरिति। अवयवशब्द इति।—अवयव आरम्भको हेतुरित्यर्थः।

अङ्गुलीभिरिति।—अङ्गीपमारूपकानुप्राणितस्य श्लेषस्य उत्प्रेक्षोपपादकत्वात् उत्प्रेक्षावयवत्वम् ॥ ४३ ॥

---

* "रजनिपुरन्ध्रीभ्रातिलकः शशी" इति पाठान्तरम्।

एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पल्लवैः ।
शब्दवैचित्र्यगर्भैश्च सुपमैव प्रपञ्चिता ॥ ४४ ॥
अलङ्कारैकदेशा ये मताः सौभाग्यभागिनः ।
तेऽप्यलङ्कारदेशीया योजनीयाः कवीश्वरैः ॥ ४५ ॥

इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तावालङ्कारिके चतुर्थेऽधिकरणे
उपमाप्रपञ्चाधिकारो नाम तृतीयोऽध्यायः ।

## समाप्तश्चेदमालङ्कारिकं चतुर्थमधिकरणम् ।

अमीषामलङ्काराणामुपमाप्रपञ्चरूपत्वमुपपादितमुपसंहरति, एभिरिति ।—निदर्शनैः उदाहरणैः । अलङ्काराणामप्येकलक्षणलक्षितानां श्रीभातिशयजनकत्वं कैमुतिकन्यायेन सिद्धमिति सूचयितुं तदेकदेशानामपि श्रीभातिशयहेतुत्वमुक्तीत्याह—अलङ्कारेति ॥ ४४—४५ ॥

इति कृतरचनायामिन्दुवंशीहहेन
विपुरहरधरित्रीमण्डलाखण्डलेन ।
ललितवचसि काव्यालङ्क्रियाकामधेना-
वधिकरणमयासीत् पूर्त्तिमेतत्तुरीयम् ॥

इति श्रीगोपेन्द्रविपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्ति-
व्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ आलङ्कारिकं नाम
चतुर्थमधिकरणम् ॥ ४ ॥

# प्रायोगिकं नाम पञ्चममधिकरणम् ।

## प्रथमोऽध्यायः ।

सम्प्रति काव्यसमयं शब्दशुद्धिञ्च दर्शयितुं प्रायोगिकाख्यमधिकरणमारभ्यते । तत्र काव्यसमयस्तावदुच्यते, (क)—

**नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण ॥ १ ॥**

एकं पदं न द्विः प्रयोज्यं प्रायेण बाहुल्येन । (ख) यथा—

"पयोद पयोद" इति ।

किञ्चिद्वि चादिपदं * द्विरपि प्रयोक्तव्यमिति । (ग) यथा—

---

किरन्ती कौतुकस्मेरैः कटाक्षैः करुणामृतम् ।
समये सन्निधत्तां मे संलपन्ती सरस्वती ॥
निर्हेतुके नियतिनिःस्पृहमुज्झिहाने
कान्तानिभे कविवरप्रतिभाविवर्त्ते ।
प्रत्यर्थशून्यपरनिर्हृतिके प्रपञ्चे
सारस्वतेऽस्तु समयः सुधियानुपाल्यः ॥

(क) 'प्रायोगिकं पञ्चममधिकरणमारभ्यते । अधिकरणान्तरारम्भौचित्यमासूत्रयति, सम्प्रतीति ।—सम्प्रतिशब्देन काव्यस्य प्रयोजनाधिकार्यात्माङ्गभेददोषगुणालङ्कारेषु दर्शितेषु प्रयोगनियमशब्दशुद्धयोः प्राप्तावसरत्वं प्रत्याय्यते । प्रयोगविषये नियामकत्वेन भवतीति प्रायोगिकम् । तयोः प्रथमं प्रयोगमर्य्यादा पर्य्यालोच्यत इत्याह, तत्रेति ।—समयः सङ्केतः, प्रयोगे वर्ज्यावर्ज्यनियम इति यावत् ।

(ख) न द्विः प्रयोज्यमिति ।—प्रतीतिवैरस्यादशक्तिसूचकत्वाच्चेत्यभिप्रायः ।

(ग) प्रायग्रहणस्य प्रयोजनमाह, किञ्चिद्वीति ।—यथा—"ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः ।" इति । आदिग्रहणात् पदानुप्रासपादयमकेषु द्विःप्रयोगो न दोषायेति द्रष्टव्यम् ।

---

* "किञ्चिदिवादिपदम्" इति पाठान्तरम् ।

"सन्तः सन्तः खलाः खलाः"। *

## नित्या संहितैकपदवत् पादेष्वर्द्धान्तवर्जम्॥ २॥

नित्या † संहिता पादेष्वेकपदवत् एकस्मिन्निव पदे। तत्र हि नित्या संहितेत्याम्नायः। (घ) यथा—

"संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः" इति॥ १॥

अर्द्धान्तवर्जमर्द्धान्तं वर्जयित्वा। (ङ)

## न पादान्तलघोर्गुरुत्वञ्च सर्वत्र॥ ३॥

पादान्तलघोर्गुरुत्वं प्रयोक्तव्यं, न सर्वत्र न सर्वस्मिन् वृत्ते इति। (च)

यथा (छ)—

"यासां बलिर्भवति मद्गुहदेहलीनां हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः।
तास्वेव पूर्वबलिरूढ़यवाङ्कुरासु बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः"॥ २॥

एवम्प्रायेष्वेव वृत्तेष्विति। न पुनः, (ज)—

---

(घ) नित्येति—एकस्मिन् पदे संहिता प्रकृष्टसन्निकर्षो यथा नित्या, तथा पादेष्वपि संहिता नित्या भवति। आम्नायः प्रमाणवचनम्।

तं दर्शयति—संहितेति॥ १॥

(ङ) अविशेषेण सर्व्वत्र प्राप्तौ क्वचित् संहितां पर्य्युदस्यति—अर्द्धान्तवर्जमिति।

(च) यदपि "वा पादान्ते" इति पादान्तवर्णस्य लघोर्गुरुत्वं विकल्पेन विहितं, तदपि न सर्व्वत्र भवतीति प्रतिपादयितुमाह—न पादान्तेति।

(छ) प्रथमं तावल्लघोर्गुरुत्वं दर्शयति—यथेति।

(ज) एवम्प्रायेष्विति।—"श्रीतिष्यभूपालक मध्यलोकदेवेन्द्र वज्राङ्कदचन्द्रिकाभिः। त्वद्वाहुराभाति हसन्निवायं प्रौढौ प्रदाने मणिपारिजातौ॥" इत्यादिषु इन्द्रवज्रादिषु उपजातिभेदेष्वपि द्रष्टव्यम्। प्रतिषेधविषयं प्रदर्शयति, न पुनरिति।—तेन "वा पादान्ते" इति व्यवस्थितविभाषा वेदितव्या।

---

* "सन्तः—" इत्यादुदाहरणं पुस्तकान्तरे न दृश्यते।

† सूत्रवृत्त्योरुभयत्रापि "नित्या" इत्यत्र "नित्यम्" इति पाठवैषम्यम्।

"वरुथिनीनां रजसि प्रसर्पति समस्तमासीद्विनिमीलितं जगत्" ॥ ३ ॥

इत्यादिषु । चकारोऽर्द्धान्तवर्जमित्यस्यानुकर्षणार्थः ।

**न गद्ये समाप्तप्रायं वृत्तमन्यत्रोद्गतादिभ्यः संवादात् ॥ ४ ॥**

गद्ये समाप्तप्रायं वृत्तं न विधेयं, शोभाभ्रंशात् । अन्यत्रोद्गतादिभ्यः विषमवृत्तेभ्यः । संवादात् गद्येनेति । (झ)

**न पादादौ खल्वादयः ॥ ५ ॥**

पादादौ खल्वादयः शब्दा न प्रयोज्याः । आदिशब्दः प्रकारार्थः । येषामादौ प्रयोगो न श्लिष्यति ते गृह्यन्ते । न पुनर्वेतद्दन्तप्रभृतयः । (ञ)

**नार्द्धे किञ्चित्समाप्तं वाक्यम् ॥ ६ ॥**

वृत्तस्यार्द्धे किञ्चित्समाप्तं * वाक्यं न प्रयोक्तव्यम् । (ट)

---

(झ) न गद्ये इति ।—गद्ये वृत्तगन्धिनि समाप्तप्रायं परिपूर्णकल्पं वृत्तं न विधेयम् । तत्र हेतुमाह, शोभेति ।—गद्यपरिपाटीविसंवादेन शोभाभंशो जायते इत्यर्थः । अन्यत्रेति ।—उद्गतादिषु विषमवृत्तेषु गद्यसंवादिषु किञ्चिद्वृत्तं समाप्तप्रायमपि गद्ये प्रयोक्तव्यम् । तत्र हेतुः, संवादादिति ।—विसंवादाभावादित्यर्थः ।

(ञ) न पादादाविति ।—पादादौ खल्वादिप्रयोगो न श्लिष्यति, श्रुतिविरसत्वादिति भावः । यथा—"खलूक्ता खलु वाचिकम्" "इव सीतागृहच्छद्मच्छन्नो लङ्केशपतिः पुरा" "किल सृजति कामिनीनां किलकिञ्चितमेव कामिजनमोहम्" इत्यादि ।

(ट) नार्द्ध इति ।—किञ्चित्समाप्तम् एकपदावशेषं वाक्यम् । एकपदार्थावशेषवाक्यार्थप्रतिपादकमर्द्धमित्यर्थः ।

---

* क्वचित् सूत्रवृत्त्योरुभयत्रापि "किञ्चित्समाप्तम्" इत्यत्र "किञ्चिदसमाप्तप्रायम्" इति पाठान्तरम् ।

यथा—

"जयन्ति ताण्डवे शम्भोर्भङ्गुराङ्गुलिकोटयः।
करा: क्षणस्य च भुजाश्चक्रांशुकपिशत्विषः" ॥ ४ ॥

## न कर्मधारयो बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकरः ॥ ७ ॥

बहुव्रीहिप्रतिपत्तिं करोति यः कर्मधारयः, स न प्रयोक्तव्यः। (ठ) यथा—

"अध्यासितश्चासौ तरुश्चाध्यासिततरुः" इति। (ड)

## तेन विपर्य्ययो व्याख्यातः ॥ ८ ॥

बहुव्रीहिरपि कर्मधारयप्रतिपत्तिकरो न प्रयोक्तव्यः। (ढ) यथा—

"वीराः पुरुषा यस्य स वीरपुरुषः"। "कलौ रवौ यस्य स कलरवः"। इति। (ण)

## सम्भाव्यनिषेधनिवर्त्तने द्वौ प्रतिषेधौ ॥ ९ ॥

सम्भाव्यस्य निषेधस्य निवर्त्तने द्वौ प्रतिषेधौ प्रयोक्तव्यौ। (त) यथा—

"समरमूर्द्धनि येन तरस्विना न न जितो विजयी विदशेश्वरः।
स खलु तापसबाणपरम्पराकवलितत्वतनुः क्षितिमाश्रितः" ॥ ५ ॥

---

तादृशमनर्द्धमुदाहरति—जयन्तीति ॥ ४ ॥

(ठ) न कर्मधारय इति।—वृत्तिः स्पष्टार्था।

(ड) तादृशमुदाहरणं दर्शयति, अध्यासित इति।—निष्ठापूर्व्वपदत्वेन बहुव्रीहिप्रतिपत्तेरेव पुरःस्फूर्त्तिकत्वादिति भावः।

(ढ) तेनेति।—समासान्तरप्रतिपत्तिकृतः समासस्य प्रयोगो न कार्य इति न्यायो यः फलितः पूर्वसूत्रे, तेनेत्यर्थः। विपर्य्ययशब्दार्थं विवृणोति—बहुव्रीहिरपीति।

(ण) वीराः पुरुषा यस्येति।—राजा चासौ पुरुष इति, राजा पुरुषो यस्येति वा राजपुरुष इति कर्मधारयो बहुव्रीहिर्वा ईदृशो न कर्त्तव्य इति तात्पर्य्यम्।

(त) सम्भाव्यस्येति।—सम्प्रतिपत्तियोग्यस्य, प्राप्तिपूर्व्वकत्वात् प्रतिषेधस्येति भावः। समरेति।—न जित इति न, किन्तु जित एवेत्यर्थः ॥ ५ ॥

**विशेषणमात्रप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्तौ ॥ १० ॥**

विशेष्यस्य प्रतिपत्तौ जातायां विशेषणमात्रस्यैव प्रयोगः। (थ) यथा—

"निधानगर्भामिव सागराम्बराम्" ॥ ६ ॥

अत्र हि पृथिव्या विशेषणमात्रमेव प्रयुक्तम्। एतेन—

"क्रुद्धस्य तस्याथ पुरामरातेर्ललाटपट्टादुदगादुदर्चिः" ॥ ७ ॥

"गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जयेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः" ॥ ८ ॥

इत्यादयः प्रयोगा व्याख्याताः।

**सर्वनाम्नाऽनुसन्धिर्वृत्तिच्छन्नस्य ॥ ११ ॥**

सर्वनाम्ना अनुसन्धिरनुसन्धानं प्रत्यवमर्शः *। वृत्तिच्छन्नस्य वृत्तौ समासे छन्नस्य गुणीभूतस्य। (द) यथा—

"तवापि नीलोत्पलपत्र † चक्षुषो मुखस्य तद्रेखसमानगन्धिनः।" इति ॥ ९ ॥

**सम्बन्धसम्बन्धेऽपि षष्ठी क्वचित् ॥ १२ ॥**

---

(थ) विशेषणेति।—यत्रानन्यसाधारणविशेषणमहिम्ना विशेष्यस्य प्रयोगमन्तरेण प्रतिपत्तिर्भवति, तत्र विशेषणमात्रप्रयोगः क्रियते।

तदुदाहृत्य दर्शयति, निधानेति।—अत्र सागराम्बरत्वं भुव एव, ऊर्ध्वार्चिर्योगश्चाग्नेरेव, तडित्सम्बन्धश्च मेघस्यैवेत्येषामनन्यसाधारणत्वम्। यत्र तु विशेषणमहिम्ना प्रतिपन्नं विशेष्यं साधारणविशेषणविशिष्टमभिधित्सितं, तत्र विशेष्यस्यापि गतार्थस्य प्रयोगे न दोष इत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ६—८ ॥

(द) सर्वनाम्नेति।—अत्र भाष्यकारवचनं प्रमाणम्—"अथ शब्दानुशासनम्। केषाम्? शब्दानाम्"। इति।

तवापीति।—तद्रेखेत्यत्र तच्छब्दः समासे उपसर्जनीभूतं नीलोत्पलं परामृशति ॥ ९ ॥

---

* क्वचित् "प्रत्यवमर्शः" इत्यनन्तरं "कार्यः" इत्यधिकः पाठः।

† "नीलोत्पलपत्र" इत्यत्र "नीलोत्पलपद्म" इति पाठान्तरम्।

सम्बन्धेन सम्बन्धः सम्बन्धसम्बन्धस्तस्मिन् षष्ठी प्रयोज्या क्वचित्, न सर्वत्रेति। (ध) यथा—

"कमलस्य कन्दः" इति।

कमलेन सम्बद्धा कमलिनी नलिनी तस्याः कन्द इति सम्बन्धसम्बन्धः। तेन कदलीकाण्डादयो व्याख्याताः। (न)

## अतिप्रयुक्तं देशभाषापदम् ॥ १३ ॥

अतीव कविभिः प्रयुक्तं देशभाषापदं प्रयोज्यम्। (प) यथा—

"योषितित्यभिललाष न हालाम्" ॥ १० ॥

इत्यत्र हालेति देशभाषापदम्। अनतिप्रयुक्तन्तु न प्रयोज्यम्। (फ) यथा—

"कङ्केलीकाननालीदविरलविलसत्पल्लवा नर्त्तयन्तः" ॥ ११ ॥

इत्यत्र कङ्केलीपदम्।

## लिङ्गाध्याहारौ (ब) ॥ १४ ॥

लिङ्गस्याध्याहारश्च लिङ्गाध्याहारावतिप्रयुक्तौ प्रयोज्याविति। लिङ्गं यथा—

"वत्से! मा बहु निःस्पृहीः कुरु सुरागण्डूषमेकं शनैः" ॥ १२ ॥

इत्यादिषु गण्डूषशब्दः पुंसि भूयसा प्रयुक्तः, न स्त्रियाम्, आम्नातोऽपि स्त्रीत्वे। (भ)

---

(ध) सम्बन्धेति।—सम्बन्धपारम्पर्य्येऽपि षष्ठी भवतीत्यर्थः।

(न) कदली हि समुदायस्तस्या गर्भस्तव काण्डमिति सम्बन्धसम्बन्ध इति।

(प) अतिप्रयुक्तमिति।—अतीव प्रयुक्तं प्रायशः प्रयुक्तम्। देशव्यवस्थिता भाषा देशभाषा, तत्र सिद्धं पदं देशभाषापदं देश्यं पदमित्यर्थः।

(फ) अतिना व्यावर्त्त्यं कीर्त्तयति—अनतीति।

कङ्केलीति।—कङ्केलिरशोकः॥ ११ ॥

(ब) लिङ्गाध्याहारावितिं।—अतिप्रयुक्तमित्यनुवर्त्तते।

(भ) न स्त्रियामिति।—"शुण्डाग्रभागे गण्डूषा द्वयोस्तु मुखपूरणे" इति स्त्रीत्वेऽप्याम्नातः स्त्रियां न प्रयुज्यते।

अध्याहारो यथा—

"मा भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परशुर्वा ।
वाहिनीजलभरः कुलिशं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्षः" ॥ १३ ॥

अत्र हि धाक्षीत् * इत्यादीनामध्याहारोऽन्वयप्रयुक्तः । (म)

## लक्षणाशब्दाश्च ॥ १५ ॥

लक्षणाशब्दाश्चातिप्रयुक्ताः प्रयोज्याः । (य)

यथा—द्विरेफरोदरशब्दौ † भ्रमरचक्रवाकार्थौ लक्षणापरौ ।

अनतिप्रयुक्ताश्च न प्रयोक्तव्याः । यथा—द्विकः काक इति । (र)

## न तद्बाहुल्यमेकत्र ॥ १६ ॥

तेषां लक्षणाशब्दानां बाहुल्यमेकस्मिन् वाक्ये न प्रयोक्तव्यम् । शक्यते ह्येकस्यावाचकस्य वाचकवद्भावः कर्तुं, न बहूनामिति । (ल)

---

मा भवन्तमिति ।—स्पष्टम् ॥ १३ ॥

(म) धाक्षीदित्यत्र आदिपदेन भाक्षीत्, क्षैत्सीत्, भैत्सीत् इत्येषामध्याहारो न दुष्यति, अतिप्रयुक्तत्वेन बुद्ध्यारूढत्वादिति भावः ।

(य) लक्षणाशब्दाश्चेति ।—स्पष्टम् ।

(र) द्वौ रेफौ यस्येति द्विरेफः । र उदरे यस्येति रोदरः । द्विरेफरोदरशब्दौ मुख्यया वृत्त्या भृङ्गरथाङ्गनामवाचकयोर्भ्रमरचक्रवाकशब्दयोर्वर्त्तेते, तेन तदर्थयोः रेफसम्बन्धाभावात् । अतो वाच्यवाचकयोरभेदोपचारेण तदर्थयोर्वर्त्तेते इति लक्षणाशब्दौ । ("चक्रवाको रोदरश्च कोकश्चक्राभिधाऽऽह्वयः" इति वैजयन्ती) । यथा द्विरेफशब्दो भ्रमरे रोदरशब्दश्चक्रवाके ; न तथा द्विक इति काके, अनतिप्रयुक्तत्वादिति । यदाहुः,—"निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत् । क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥" इति ।

(ल) न बहूनामिति ।—लक्षणापदबाहुल्ये क्लिष्टतादोषप्रसङ्गादिति भावः ।

---

* "धाक्षीत्" इत्यत्र "अधाक्षीत्" इति पाठान्तरमयुक्तम् ।

† "द्विरेफरथचरणशब्दौ" इति पाठान्तरम् ।

**स्तनादीनां द्वित्वाविष्टा जातिः प्रायेण ॥ १७ ॥**

स्तनादीनां द्वित्वाविष्टा द्वित्वाध्यासिता जातिः प्रायेण बाहुल्येनेति। यथा—

"स्तनयोस्तरुणीजनस्य" इति। (व)

प्रायेणेति वचनात् क्वचिन्न भवति। यथा—

"स्त्रीणां चक्षुः" इति।

अथ कथं द्वित्वाविष्टत्वं जातेः? तद्धि द्रव्ये, न जातौ, अतद्रूपत्वाज्जातेः *। न दोषः, तद्रूपत्वाज्जातेः †। कथं तद्रूपत्वं ‡ जातेः? तद्धि जैना § जानन्ति। वयं तु लक्ष्यसिद्धौ सिद्धपरमतानुवादिनः। न चैवमतिप्रसङ्गः, लक्ष्यानुसारित्वात् न्यायस्येति। एवमन्यात्रापि व्यवस्थोह्या। (श)

इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ प्रायोगिके पञ्चमेऽधिकरणे काव्यसमयनाम प्रथमोऽध्यायः।

---

(व) तरुणीजनस्येति।—जनशब्दः समूहवचनः।

(श) ननु न जातेर्द्वित्वाविष्टत्वमुपपद्यते, संख्याया द्रव्यधर्मत्वेन जातिधर्मत्वाभावादिति शङ्कते—अथ कथमिति। जातेर्द्रव्याभिन्नत्वान्नायं दोष इति परिहरति—न दोष इति। जातिव्यक्त्योरभेद एव कुत इति शङ्कते—कथं तद्रूपत्वमिति। जात्यपलापवादिनो जैनाः प्रष्टव्या इत्याह—जैना इति। अपसिद्धान्तशङ्कामवधीरयति, वयन्त्विति।—न वयं जातिमपलप्यान्यापोहवादं समर्थयामहे, किन्तु सिद्धं परमतमनूद्य प्रयोगं प्रतिष्ठापयामः। एवं तर्हि यस्य कस्यचिन्मतमवलम्ब्य यत्किञ्चिदपि समर्थयितुं शक्यते इत्यतिप्रसङ्गमाशङ्क्य परिहरति, न चैवमिति।—यथा पाणिनीये क्वचिज्जातिः क्वचिद्व्यक्तिरिति पक्षद्वयमवलम्ब्य

---

* "अतद्रूपत्वात् जातेः" इत्यत्र "अतद्रूपत्वात् तस्याः" इति पाठान्तरम्।

† "तदतद्रूपत्वात् जातेः" इति पाठान्तरं चिन्त्यम्।

‡ "तदतद्रूपत्वम्" इति पाठभेदः चिन्त्यः।

§ "जैनाः" इत्यत्र "जैमनीयाः" इति क्वचित् पाठः न साधीयान्।

# द्वितीयोऽध्यायः ।

साम्प्रतं शब्दशुद्धिरुच्यते, (क)—

## रुद्रावित्येकशेषोऽन्वेष्यः ॥ १ ॥

रुद्रावित्यत्र प्रयोगे एकशेषोऽन्वेष्योऽन्वेषणीयः । रुद्रश्च रुद्राणी चेति "पुमान् स्त्रिया" इत्येकशेषः । स च न प्राप्नोति । तत्र हि "तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः" इत्यनुवर्त्तते इति तत्रैवकारकरणात् स्त्रीपुंसलक्षत एव यदि विशेषो * भवतीति व्यवस्थितम् । अत्र तु "पुंयोगादाख्यायाम्" इति विशेषान्तरमप्यस्तीति । एतेनेन्द्री भवी शर्वी इत्यादयः प्रयोगाः प्रत्युक्ताः । (ख)

---

लक्ष्यनिर्वाहः क्रियते तदुदाप्यपि परमतमनुसृत्य प्रयोगनिर्वाहः कृतः । प्रसिद्धे लक्ष्ये सति तदनुसारी न्यायोऽन्विष्यते, न तु न्यायोऽस्तीति लक्ष्यमन्वेषणीयम् ; लक्ष्यानुसारिण्याय्यस्येति । एवमन्या अवस्था प्रयोगमर्य्यादा स्वयं बुद्धिमद्भिरूहनीया ।

इति श्रीगोपेन्द्रविपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्तेः
व्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ प्रायोगिके
पञ्चमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ॥

---

क्लिन्ते मोहं चिन्मुकर्षं प्रयुङ्क्ते सूते सूक्तिं सूयते या पुमर्थान् ।
प्रीतिं कीर्त्तिं प्रापुकामेन सेव्या शास्त्री शुद्धिः शारदेवास्तु सेव्या ॥

(क) अथेदानीमध्यायान्तरं व्याचिख्यासुस्तत्प्रयोजनं प्रस्तौति—साम्प्रतमिति ।

(ख) तत्र तावदेकशेषविषयं किञ्चिच्चोधयितुं सूत्रमनुभाषते, रुद्राविति ।—"पुमान् स्त्रिया" (१।२।६७ पा०) इत्येकशेषो विधीयते । तत्र "वृद्धो यूना—"

---

* "एव यदि विशेषः" इत्यत्र "एव विशेषः" इति पाठः क्वचित् ।

## मिलि-क्लवि-च्वपिप्रभृतीनां धातुत्वं धातुगण-स्यापरिसमाप्तेः ॥ २ ॥

मिलति-विक्लवति-च्वपयतीत्यादयः प्रयोगाः दृश्यन्ते। तत्र मिलि-क्लवि-च्वपिप्रभृतीनां कथं धातुत्वम् ? गणपाठात् गणपठितानामेव धातुसंज्ञाविधानात्। तत्राह—धातुगणस्यापरिसमाप्तेः "वर्त्तते धातुगणः" इति हि शब्दविद आचक्षते। तेनैषां गणपाठोऽनुमतः शिष्टप्रयोगादिति। (ग)

## बलेरात्मनेपदमनित्यं ज्ञापकात् ॥ ३ ॥

बलेरनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदं यत्, तदनित्यं दृश्यते—"लज्जा-

---

(१।२।६५ पा०) इति सूत्रात् "तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः" इत्यनुवर्त्तते। तदिति स्त्रीपुंसयोर्निर्देशः। लक्षणशब्दो निमित्तपर्य्यायः। चेच्छब्दो यद्यर्थे। एवकारोऽवधारणे। विशेषो वैरूप्यम्। स्त्रिया सह वचने पुमान् शिष्यते। स्त्रीपुंसलक्षण एव चेद्विशेषो भवति, स्त्रीपुंसकृतमेव यदि वैरूप्यं भवतीत्यर्थः। ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणाविति। तद्वदेव रुद्रश्च रुद्राणी च रुद्राविति व्याप्येकशेषः प्राप्नोतीति यः कश्चिदभिमन्यते, तत्प्रतिषेधाय प्रयोगादर्शनं प्रत्याययति—अन्वेषणीय इति। न्यायतः प्राप्तौ प्रयोगोऽप्युन्नीयतामिति, तत्राह—स च न प्राप्नोतीति। अप्राप्तिमेव दर्शयितुमाह—तत्र हीति। अस्त्वेवं व्यवस्था, प्रकृते को विरोध इति तत्राह, अत्र त्विति।—रुद्राणीत्यत्र "पुंयोगादाख्यायाम्" (४।१।४८ पा०) इत्यनुवर्त्तमाने "इन्द्रवरुण—" (४।१।४९ पा०) इत्यादिना ङीष् विधीयते—पुंस आख्याभूतं यत् प्रातिपदिकं पुंयोगात् स्त्रियां वर्त्तते तस्मात् ङीष्प्रत्ययो भवतीति। अतस्तल्लक्षणविशेषव्यतिरेकेण विशेषान्तरस्यापि विद्यमानत्वान्नावैकशेषप्राप्तिरिति। एतत्समानयोगत्वेनापि प्रयोगान्तराणि प्रत्याख्येयानीत्याह—एतेनेति।

(ग) मिलिक्लवीति।—"भूवादयो धातवः" इति गणपठितानामेव धातुसंज्ञाविधानाद्धातुगणे मिलिप्रभृतीनामपाठात् कथं धातुत्वमित्याशङ्कापूर्व्वकं धातुत्वं समर्थयते—मिलति-विक्लवति-च्वपयतीति। धातुगणस्यापरिसमाप्तौ प्राचीनाचार्य्यवचनं प्रमाणयति—वर्त्तते धातुगण इति। प्रभृतिशब्दाद्दीव्यान्दीव्यादयः।

(घ) बलेरात्मनेपदमिति।—"अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" (१।३।१२ पा०)

लोलं बलन्तो" इत्यादि प्रयोगेषु। तत्कथमित्याह,—ज्ञापकात्। (घ)

किं पुनस्तज्ज्ञापकम्? अत आह,—

## चचिङो द्यनुबन्धकरणम् * ॥ ४ ॥

चचिङ इकारेणैवानुदात्तेन सिद्धमात्मनेपदं, किमर्थं ङित्करणम्? तत् क्रियते अनुदात्तनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनार्थम्। एतेन वेदि-भर्त्सि-तर्जिप्रभृतयो व्याख्याताः। आवेदयति-भर्त्सयति-तर्जयतीत्यादीनां प्रयोगाणां दर्शनात्। अन्यत्राप्यनुदात्तनिबन्धनस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वं ज्ञापकेन द्रष्टव्यमिति। (ङ)

## क्ष्वीयते इति कर्मकर्तरि ॥ ५ ॥

क्ष्वीयते इति प्रयोगो दृश्यते, स कर्मकर्तरि द्रष्टव्यः। क्ष्वीयतेरनात्मनेपदित्वात्। (च)

---

इति बलेर्धातोरनुदात्तेत्त्वान्नित्यमात्मनेपदप्राप्तौ शिष्टप्रयोगेषु परस्मैपददर्शनात् तत्सिद्धये क्वचिदनुदात्तेत्त्वनिबन्धनस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वं ज्ञापकेन समर्थयितुमाह—बलेरनुदात्तेत्त्वादिति।

(ङ) अनुदात्तेत्त्वनिबन्धनस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वे चचिङो ङित्करणं ज्ञापकमित्याह—चचिङो द्यनुबन्धकरणमिति। इकारेणैवेति।—नन्वेवं "शीङः प्रादान्ते" (७।१।५७ पा०) इत्यतोऽन्तयङ्ग्रहणानुवृत्तेरन्तेदित्त्वे सति "इदितो नुम् धातोः" (७।१।५८ पा०) इति नुम् स्यात्, तर्हि "क्ष्वच व्यक्तायां वाचि" इत्यकारान्तः पठ्येतेति भावः। उक्तमात्मनेपदस्यानित्यत्वं वेदि-भर्त्सिप्रभृतिष्वपि द्रष्टव्यमित्याह, एतेनेति।—"आ गर्वादात्मनेपदिनः" इत्यात्मनेपदित्वेनानुदात्तेत्त्वं लक्ष्यते इति भावः। अन्यथाऽनुदात्तेत्त्वनिबन्धनस्यात्मनेपदस्यानित्यताज्ञापने किमायातम्। न चैवमतिप्रसङ्गः, शिष्टप्रयोगमात्रविषयत्वाज्ज्ञापकस्य।

(च) क्ष्वीयते इति।—क्ष्विणोतेः सौवादिकस्य सुप्रत्ययान्तत्वेन प्रसिद्धावपि

---

* पुस्तकान्तरे सूत्रमिदं वृत्तिमध्ये पठितं दृश्यते।

## खिद्यते इति च ॥ ६ ॥

खिद्यते इति च प्रयोगो दृश्यते, सोऽपि कर्मकर्त्तर्येव द्रष्टव्यः, न कर्त्तरि ; अदैवादिकत्वात् खिदेः * । (छ)

## मार्गेरात्मनेपदमलक्ष्म ॥ ७ ॥

चुरादौ "मार्ग अन्वेषणे" इति पठ्यते "आ धृषाद्वा" इति विकल्पितणिच्कः तस्मात् यदात्मनेपदं दृश्यते—"मागन्तां देहभारम्—" इति तदलक्ष्म अलक्षणं, परस्मैपदित्वान्मार्गेः । तथा च शिष्टप्रयोगः, (ज)—

"करकिसलयं धूत्वा धूत्वा विमार्गति वाससी" ॥ १ ॥

## लोलमानादयश्चानभि ॥ ८ ॥

लोलमानो वेल्लमान इत्यादयश्चानभि द्रष्टव्याः । शानच-स्वभावः । परस्मैपदित्वाद्धातूनामिति । (झ)

---

क्ष्वीयते इति कर्त्तरि शिष्टप्रयोगो दृश्यते । तस्योपपत्तिमाह, स कर्मकर्त्तरि द्रष्टव्य इति ।—क्ष्विणोतेः कर्मस्थभावकत्वात् कर्मवद्भावः ।

(छ) खिद्यते इति चेति ।—चकारेण कर्मकर्त्तरीति समुच्चिनोति, सोऽपीति ।—खिदेऽकर्मकत्वादन्तर्भावितण्यर्थत्वे प्रयोज्यकर्मस्थभावकत्वात् कर्मवद्भावः । खिदेरनुदात्तेतः श्यनि कृते खिद्यते इति रूपं सिध्यतीति शङ्कां परिहरति—अदैवादिकत्वादिति ।

(ज) मार्गेरिति ।—चौरादिकस्य मार्गेः "आ धृषाद्वा" (ग० ) इति णिचो वैकल्पिकत्वेन तदभावे सति परस्मैपदित्वान्मार्गतीति शिष्टप्रयोगदर्शनाच्च परस्मैपदे प्रयोक्तव्ये, यत्तु प्रयोगे कुत्रचिदात्मनेपदं दृश्यते—मार्गेन्तामिति ; तल्लक्षणहीनमित्याह—चुरादाविति । द्वयोरपि प्रयोगयोर्दर्शने कथमत्र व्यवस्थेति तत्राह—तथा च शिष्टप्रयोग इति ।

(झ) लोलमानादय इति ।—"लोलमाननवमौक्तिकहारं वेल्लमानचिकुरभ्रमरालम् । खिन्नवेल्लमविकम्बरनेचं कौशलं विजयते कलकण्ठ्याः ॥" इत्यादिषु

---

* "खिद्यते" "खिद्यते" "खिदेः" इत्येतेषु "खिद्यते" "खिद्यते" "खिदेः" इति पाठवैषम्यापि ।

## लभेर्गत्यर्थत्वाभिच्यणौ कर्त्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे ॥९॥

अस्त्ययं लभिः, यः प्राप्त्युपसर्जनां गतिमाह, अस्ति च गत्युपसर्जनां प्राप्तिमाहेति। अत्र पूर्वस्मिन् पक्षे गत्यर्थत्वाल्लभेर्णिच्यणौ यः कर्त्ता, तस्य गत्यादिसूत्रेण कर्मसंज्ञा। (ञ) यथा—

"दीर्घिकासु कुमुदानि विकासं लम्भयन्ति शिशिराः शशिभासः" ॥ २ ॥

द्वितीये तु पक्षे गत्यर्थाभावाल्लभेर्णिच्यणौ कर्त्तुर्न कर्मसंज्ञा। (ट) यथा—

"सितं सितिम्ना सुतरां सुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः शुचिस्मितां वाचमवीचदच्युतः" ॥ ३ ॥

## ते-मे-शब्दौ निपातेषु ॥ १० ॥

---

लीलमानादयः प्रयोगा दृश्यन्ते। परस्मैपदित्वादेतेषां शानजन्तत्वं विरुद्धम्; आत्मनेपदित्वाच्छानच इत्याशङ्क्यायां प्रकारान्तरेण साधुत्वं समर्थयते, लीलमानो वेल्लमान इति।—"ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्" (३।२।१२९ पा०) इति ताच्छील्यादिष्वर्थेषु धात्वधिकारे चानशो विधानादेते प्रयोगाश्चानशि द्रष्टव्याः, न तु शानचि, अतो न विरोधः।

(ञ) लभेरिति।—यद्यपि "डुलभष् प्राप्तौ" इति प्राप्तिरेव लभेरर्थः, तथाऽपि प्राप्तेर्गतिपूर्वकत्वात् प्राप्तिगत्योः कार्यकरणयोरभेदोपचारेण प्राप्त्युपसर्जनगत्यर्थत्वमपि लभेरङ्गीकृत्य प्रथमं तावत् पक्षद्वयं प्रस्तौति, अस्त्ययमिति।—यः प्राप्त्युपसर्जनां गतिमाह, सोऽयं लभिरस्ति; यश्च गत्युपसर्जनां प्राप्तिमाह, अयमपि लभिरस्तीति योजना। विवक्षावशात् लभिरयं कदाचित् प्राधान्येन गतिमाह, कदाचित्तु प्राप्तिमित्यर्थः। तत्र प्रथमे पक्षे निर्विवादमणिकर्त्तुर्णिचि कर्मत्वमित्याह—अत्र पूर्वस्मिन्निति।

(ट) द्वितीये तु गत्यर्थत्वाभावान्नाण्यिकर्त्तुः कर्मसंज्ञेत्याह—द्वितीये त्विति।

सितमिति।—ततश्च सितिम्नेत्यत्र "कर्तृकरणयोस्तृतीया" (२।३।१८ पा०) इति प्रयोज्ये कर्त्तरि तृतीया ॥ ३ ॥

त्वया मयेत्यस्मिन्नर्थे ते-मे-शब्दौ निपातेषु द्रष्टव्यौ। (ठ) यथा—

"श्रुतं ते वचनं तस्य" "वेदानधीत इति नाधिगतं पुरा मे" ॥ ४ ॥

## तिरस्कृत इति परिभूतेऽन्तर्द्धोपचारात् ॥ ११ ॥

तिरस्कृत इति शब्दः परिभूते दृश्यते,—"राज्ञा तिरस्कृतः" इति; स च न प्राप्नोति। तिरःशब्दस्य हि "तिरोऽन्तर्द्धौ (१।४।७१ पा०) इत्यन्तर्द्धौ गतिसंज्ञा। तस्याञ्च सत्यां "तिरसोऽन्यतरस्याम्" (८।३।४२ पा०) इति सकारः। तत्कथं तिरस्कृत इति परिभूते? आह—अन्तर्द्धोपचारादिति। परिभूतो ह्यन्तर्हितवद्भवति। (ड)

मुख्यस्तु प्रयोगो यथा, (ढ)—

"लावण्यप्रसरतिरस्कृताङ्गलेखाम्" इति ॥ ५ ॥

## नैकशब्दः सुप्सुपेति समासात् ॥ १२ ॥

"अरण्यानीस्थानं फलनमितनैकद्रुमनिदम्" ॥ ६ ॥

इत्यादिषु नैकशब्दो दृश्यते, स च न सिध्यति। नञ्समासे हि "नलोपो नञः" इति नलोपे "तस्मान्नुड्चि" इति नुडागमे सत्यनेकमिति रूपं स्यात्। निरनुबन्धस्य * नशब्दस्य समासे लक्षणं नास्ति। तत्कथं नैकशब्द इत्याह—सुप्सुपेति समासात्। (ण)

---

(ठ) ते-मे इत्यादि।—अत्र "तेमयावेकवचनस्य" (८।१।२२ पा०) इति युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोस्तेमयावादिष्टौ इति विभक्त्यन्तरस्थयोस्तयोरादेशप्राप्तौ निपातेषु पाठात् तवापि प्रयोगसिद्धिरित्याह—ते-मेशब्दाविति।

(ड) तिरस्कृत इति।—तिरस्कृतशब्दस्य परिभूतार्थे प्रयोगं दर्शयन्, तस्यानुपपत्तिमुद्घाटयति—तिरस्कृतशब्द इत्यादिना। समाधत्ते—अन्तर्द्धोपचारादिति।

(ढ) मुख्यपूर्वकत्वाद्गौणस्य मुख्यं दर्शयति—मुख्यस्त्विति।

(ण) नञ्समासे हीति।—"नलोपो नञः" (६।३।७३ पा०) इति नकार-

---

* "निरनुबन्धस्य" इत्यत्र "निरनुबन्धकस्य" इति क्वाचित्कः पाठः।

**मधुपिपासुप्रभृतीनां समासो गमिगाम्यादिषु पाठात् ( त ) ॥१३॥**

"मधुपिपासुमधुव्रतसेवितं मुकुलजालमजृम्भत वीरुधाम्" ॥ ७ ॥

इत्यादिषु मधुपिपासुप्रभृतीनां समासो गमिगाम्यादिषु पिपासुप्रभृतीनां पाठात्। "श्रितादिषु गमिगाम्यादीनाम्" ( वा० ) * इति द्वितीयासमासलक्षणं दर्शयति।

**विबलीशब्दः सिद्धः संज्ञा चेत् ॥ १४ ॥**

विबलीत्ययं शब्दः सिद्धो यदि संज्ञा। "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति संज्ञायामेव समासविधानात्। ( थ )

---

लोपे सति, "तस्मान्नुडचि" ( ६।३।७४ पा० ) इति नुडागमे च कृते, अनेकमिति रूपं स्यात्, न तु नैकमिति। ननु न सिध्यति चेन्माऽस्तु नञ्समासः; प्रकारान्तरेण किं न स्यादित्यत आह—निरनुबन्धस्येति। सुप्सुपेति।—"सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" ( २।१।२ पा० ) इत्यतः सुबित्यनुवृत्तौ, "सह सुपा" ( २।१।४ पा० ) इति योगविभागात् सुबन्तं पदं सुबन्तेन सह समस्यते इति समासे नैकशब्दः सिद्धो भवतीत्यर्थः।

( त ) मधुपिपासुप्रभृतीनामिति।—श्रितादिष्वग्रहणान्नात्र द्वितीयासमासः सम्भवति, नापि क्रदन्तेन सह षष्ठीसमासः, "न लोका—" ( २।३।६९ पा० ) इत्यादिसूत्रे उप्रत्ययान्तेन योगे षष्ठीनिषेधात्; तत् कथमत्र समासः? इति चिन्तायां समासस्य गतिमाह—गमिगाम्यादिष्विति।

( थ ) विबलीशब्द इति।—"कीर्णस्त्रिवल्येव कुचावलावूस्तस्यास्तु दण्डस्तनुरोमराजिः। हारोऽपि तन्वीरिति मन्मथस्य सङ्गीतविद्यासरलस्य वीणा॥" किमयं संज्ञा, असंज्ञा वा? असंज्ञापक्षे विबलीशब्दस्य "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" ( २।१।५१ पा० ) इति समासो वक्तव्यः; तच्च न सङ्गच्छते; तथाहि—न तावत् पञ्चकपाल इत्यादिवत् तद्धितार्थो विषयोऽस्ति; नापि पञ्चगवधन इत्यादिवदुत्तरपदं परं, न चापि पञ्चपात्रमित्यादिवत् समाहारः, समाहारे हि तस्यैकत्वादेकवद्भावे

---

* "श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसंख्यानम्" इति क्वचित् पाठः।

**विम्बाधर इति वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम्॥ १५॥**

"विम्बाधरः पीयते" इति प्रयोगो दृश्यते, स च न युक्तः, अधरविम्बम् इति भवितव्यम्, "उपमितं व्याघ्रादिभिः—" (२।१।५६ पा०) इति समासे सति। तत्कथं विम्बाधर इति? आह—वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम्। शाकपार्थिवादित्वात् समासे मध्यमपदलोपिनि समासे * सति विम्बाकारोऽधरो विम्बाधर इति। तेन विम्बौष्ठशब्दोऽपि व्याख्यातः। अत्रापि पूर्ववद्वृत्तिः। शिष्टप्रयोगेषु चैष विधिः, तेन नातिप्रसङ्गः। (द)

**आमूललोलादिषु वृत्तिर्विस्पष्टपटुवत्॥ १६॥**

आमूललोलमामूलसरसम् † इत्यादिषु वृत्तिर्विस्पष्टपटुवत्,

---

सति "स नपुंसकम्" (२।४।१७ पा०) इति नपुंसकत्वं स्यात्। तदवासंज्ञापक्षो नेष्ट इत्यभिसन्धाय संज्ञापक्षमाश्रित्य समासमाह, विबलीशब्दः सिद्धो यदि संज्ञेति।—यदि विबलीशब्दः संज्ञा भवति, तदा व्ययवा बली विबलीति विग्रहे "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" (२।१।५० पा०) इति समासः सिध्यति।

(द) विम्बाधर इति।—अत्र समासवृत्तिं संवेदयितुमभियुक्तप्रयोगं तावद्दर्शयति—विम्बाधरः पीयते इति। प्रामाणिकप्रयोगदर्शनादयमसाधुरिति वक्तुमयुक्तमित्याशङ्क्याह—स च न युक्त इति। लक्षणानुगुणं प्रयोगं दर्शयन्नस्या अयुक्तत्वं दर्शयति—अधरविम्ब इति। समाधत्ते—वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्यामिति। उक्तासुपपत्तिमन्यत्राप्यनुगमयति—तेनेति। ननु तर्हि व्याघ्राकारः पुरुषो व्याघ्रपुरुष इत्यपि स्यादित्यतिप्रसङ्गं परिहरति—शिष्टप्रयोगेषु चैष विधिरिति।

(घ) आमूललोलादिष्विति।—आमूल लोलमिति विग्रहः। अत्र तत्पुरुषाधि-

---

* "मध्यमपदलोपिनि समासे सति" इत्यत्र "मध्यमपदलोपिनि सति" इति पाठान्तरम्।

† "आमूलसरसम्" इत्यत्र आमूलसरलम्" इति पाठान्तरम्।

मयूरव्यंसकादित्वात्। लोलमिव लोलम् आमूलं तल्लोलश्चेति *। (ध)

**न धान्यषष्ठादिषु षष्ठीसमासप्रतिषेधः, पूरणेनान्यतद्धितान्तत्वात् ॥ १७ ॥**

"धान्यषष्ठं" "तान्युच्छषष्ठार्द्धतसैकतानि" इत्यादिषु न षष्ठीसमासप्रतिषेधः, पूरणेन पूरणप्रत्ययान्तेनान्यतद्धितान्तत्वात् † षष्ठो भागः षष्ठ इति। "पूरणाद्भागे तीयादन्" "षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च" इत्यन्विधानात् स प्राप्तः ‡। (न)

**पत्रपीतिमादिषु गुणवचनेन ॥ १८ ॥**

"पत्रपीतिमा" "पक्ष्मालीपिङ्गलिमा" § इत्यादिषु षष्ठीसमासप्रतिषेधो गुणवचनेन प्राप्तः, बालिश्याच्तु न कृतः। (प)

---

कारे लक्षणादर्शनात् समासान्तरस्य चाप्रसक्तेः कथनामूललीलादिप्रयोगः सिध्यतीति चिन्तायाम् "अविहितलक्षणस्त्वृषौ मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यः" इति वचनात् विस्पष्टपटुशब्दवत् समाससिद्धिरित्याह—आमूललीलमामूलसरसमिति।

(न) न धान्यषष्ठादिष्विति।—धान्यानां षष्ठमुच्छानां षष्ठमित्यत्र "पूरणगुणसुहितार्थैः—" (२।२।११ पा०) इति सूत्रेण पूरणप्रत्ययान्तेन समासनिषेधः क्रियते; स च न भवतीत्याह—धान्यषष्ठमिति। तत्र हेतुमाह, तद्धितेति।—षष्ठशब्दस्य तद्धितान्तत्वादित्यर्थः। कः पुनरत्र पूरणप्रत्ययव्यतिरेकेण तद्धित इत्याकाङ्क्षायां तद्धितं दर्शयति, षष्ठो भाग इति।—"पूरणाद्भागे तीयादन्" (५।३।४८ पा०) इत्यनुवृत्तौ "षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च" (५।३।५० पा०) इत्यन्विधानादन्यतद्धितान्तत्वमित्यर्थः।

(प) पत्रपीतिमादिष्विति।—अत्र "पूरणगुण—" (२।२।११ पा०) इत्यादि-

---

* "लोलमिव—" इत्यादिपाठः पुस्तकान्तरे न दृश्यते।

† क्वचित् सूत्रवृत्त्योरुभयत्रापि "अन्यतद्धितान्तत्वात्" इत्यत्र तद्धितान्तत्वात्" इति पाठो दृश्यते।

‡ "सः प्राप्तः" इति पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति।

§ "पक्ष्मालीपिङ्गलिम्नः" "पक्ष्मालीपिङ्गलिमा" इति च पाठान्तरद्वयम्।

## अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः ॥ १९ ॥

अवर्ज्यो न वर्जनीयो व्यधिकरणो बहुव्रीहिः। जन्मादुत्तरं पदं यस्य स जन्माद्युत्तरपदः। (फ) यथा—

"सच्छास्त्रजन्मा * हि विवेकलाभः" "कान्तद्वित्तयः † प्राणाः" इति ॥ ८ ॥

## हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदात् ॥२०॥

हस्ताग्रम्, अग्रहस्तः, पुष्पाग्रम्, अग्रपुष्पम् इत्यादयः प्रयोगाः कथम् ? आहिताग्न्यादिष्वपाठात्, पाठे वा तदनियमः स्यात्। अत आह—गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्। तत्र भेदात् हस्ताग्रादयः। अभेदादग्रहस्तादयः। (ब)

---

सूत्रेण गुणवाचिना षष्ठीसमासप्रतिषेधः प्राप्तः, स तु मौढ्यान्न कृतः; ततः पक्वपीतिमादयो न युक्ता इत्याह, "पक्वपीतिमा" पक्वालौपिङ्गलिमा" इति।—"वर्त्तमानसामीप्ये" (३।३।१३१ पा०) इति ज्ञापकात् पक्वपीतिमादयः सिध्यन्तीति केचित्। येषान्तु मतं—गुणः सम्बन्धित्वाद्गुणिनमाक्षिपति, तेन गुणेन गुणिनः षष्ठीसमासनिषेधः; न च वर्त्तमानः सामीप्ये गुणी, भूतभविष्यतोरेव तद्गुणित्वादिति; तेषां मते "उत्तरपदार्थप्राधान्ये" इति ज्ञापकादनित्यः षष्ठीसमासप्रतिषेध इति केचिदाचक्षते।

(फ) अवर्ज्य इति।—"बहुव्रीहिः समानाधिकरणानामिति वक्तव्यम्" इति वचनात् व्यधिकरणस्य बहुव्रीहेरसिद्धौ क्वचिद्विषये तत्सिद्धिमाह—अवर्ज्य इति।

सदिति।—सच्छास्त्राज्जन्म यस्य स सच्छास्त्रजन्मा। कान्ते प्रिये, द्वित्तिर्येषां ते कान्तद्वित्तय इति व्यधिकरणत्वम्। यत्र गमकत्वं, तत्रेदं वेदितव्यम् ॥ ८ ॥

(ब) हस्ताग्रेति।—अत्र गुणशब्देन परार्थत्वसाद्दृश्यादवयवो लक्ष्यते। तथा च गुणगुणिनाविहावयवावयविनौ, तयोर्भेदविवक्षायां हस्ताग्रादयः; तदा षष्ठीसमासः। अभेदविवक्षायान्तु अग्रहस्तादयः। तदा अभेदोपचारेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तभेदादविशेषणसमासः।

---

* "शास्त्रार्थजन्मा" इति पाठः क्वचित्।

† "कण्ठद्वित्तयः" इति पाठान्तरम्।

**पूर्वनिपातेऽपभ्रंशो रच्यः ॥ २१ ॥**

काष्ठतृणं तृणकाष्ठमिति यदृच्छया पूर्वनिपातं कुर्वन्ति, तत्रापभ्रंशो रच्यो रक्षणीयः। अनित्यत्वज्ञापनन्तु न सर्वविषयमिति। ( भ )

**निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः, परिगणनस्य प्रायिकत्वात् ॥ २२ ॥**

"अनभिहिते" इत्यत्र सूत्रे "तिङ्कृत्तद्धितसमासैः" इति परिगणनं कृतं, तस्य प्रायिकत्वान्निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिर्भवति। ( म ) यथा—

"विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्"। "पण्डितं मूर्ख इति मन्यते" इति ॥९॥

---

( भ ) पूर्वनिपात इति।—"लघ्वक्षरं पूर्वं निपतति" ( वा० ) इति वार्त्तिककारवचनेन द्वन्द्वे पूर्वनिपातविधानात्तृणकाष्ठमिति वक्तव्ये काष्ठतृणमिति क्वचित् केनचित् प्रयुक्तम्। तत्र पूर्वनिपाते अपभ्रंशः शास्त्रमर्य्यादातिक्रमः। स रच्यः परिहरणीयः, तथा न प्रयोक्तव्यमिति तात्पर्य्यम्। "कुमारशीर्षयोः—" ( ३।२।५१ पा० ) इति ज्ञापकात् पूर्वनिपातव्यत्यासो भविष्यतीति तत्राह—अनित्यत्वज्ञापनं त्विति। न सर्वेति।—"प्राप्तस्य चाबाधा" इति वचनाच्छिष्टप्रयुक्तद्वन्द्वविषयमेवैति भावः।

( म ) निपातेनापीति।—"ब्राह्मणं देवदत्त इति मन्यते" इत्यादौ "अनभिहिते" ( २।३।१ पा० ) इत्यधिकारात् तिङ्कृत्तद्धितसमासैरनभिहिते कारके कर्मणि द्वितीयया भवितव्यमित्याशङ्क्यायामाह—निपातेनापीति। तत्र हेतुमाह, परिगणनस्येति।—भगवता वार्त्तिककारेण प्रायिकाभिप्रायेण "तिङ्कृत्तद्धितसमासैः" ( २।३।२ पा० इति सूत्रस्य वृ० ) इति परिगणनं कृतं, ततश्चैवंविधाः प्रयोगाः सिद्धा इति।

दर्शयति, विषवृक्ष इति।—अत्र संवर्द्धनच्छेदनक्रिययोः सकर्मकत्वेन कर्माकाङ्क्षायां न कर्मविभक्तिर्भवति, विधेयायुक्तत्वाभिधायिना असाम्प्रतमिति निपातेनाभिहितत्वात्। नन्वसाम्प्रतपदस्य तद्धितान्तत्वात् तेनैवाभिहिते न भवत्येव कर्मविभक्तिः, अतो नेदमुदाहरणमिति न चोदनीयम्; ( "युक्ते काले च साम्प्रतम्" ) इत्यभिधानादतद्धितान्त एवायं निपातः; तद्धितान्तत्वे वा तस्यानन्यार्थत्वान्न तेनाभि-

**शक्यमिति रूपं कर्माभिधायां लिङ्गवचनस्यापि * सामान्योपक्रमात् ॥ २३ ॥**

शकेः "शकिसहोश्च" (३।१।९९ पा०) इति कर्मणि यति कृते शक्यमिति रूपं भवति, कर्माभिधायां कर्मवचने। लिङ्गवचनस्यापि † सामान्योपक्रमात् विशेषानपेक्षायामिति। (य)

यथा (र)—

"शक्यमौषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव।
अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसम्पुटैः कराः" ॥ १० ॥

**अथ भाष्यकृद्वचनं लिङ्गम्। यथा—**

"शक्यञ्च श्वभ्रसादिभिरपि च्युत्प्रतिहन्तुम्" इति ‡।

**न चैकान्तिकः सामान्योपक्रमः। (ल) तेन—**

---

धानमिति भावः। शब्दशक्तिस्वाभाव्यादस्याभिधायकत्वमिति द्रष्टव्यम्। मूर्ख इति।—अत्र समुदायस्य कर्मत्वेऽपि "अर्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थम्" इति वाक्यान्न विभक्त्युत्पत्तिः ॥ ९ ॥

(य) "शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकगन्धिनः" इत्यादयः प्रयोगा दृश्यन्ते। शकेः कृत्यप्रत्यये शक्यमिति रूपम्। "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः" (३।४।७० पा०) इति कर्मार्थे विहितस्य तस्य कर्माभिधायां विशेष्यवल्लिङ्गवचनाभ्यां भवितव्यमिति प्राप्ते प्राह, शक्यमिति रूपमिति।—कर्माभिधायामपि शक्यमिति रूपं सिद्धम्। तत्र हेतुमाह, लिङ्गवचनस्यापीति।—लिङ्गञ्च वचनञ्च लिङ्गवचनम्। तस्य सामान्योपक्रमाल्लिङ्गसामान्यं नपुंसकं, वचनसामान्यम् एकत्वं, तयोरुपक्रमात् विशेषनैरपेक्ष्येण लिङ्गवचनसामान्यस्य विवक्षणादित्यर्थः।

(र) उदाहृत्य दर्शयति—यथेति।

(ल) ऐकान्तिको नियतः।

---

* "लिङ्गवचनस्यापि" इत्यत्र "विलिङ्गवचनस्यापि" इति पाठान्तरम्।

† "कृते" इत्यत्र "सति" तथा "लिङ्गवचनस्यापि" इत्यत्र "विलिङ्गवचनस्यापि विरूढलिङ्गवचनस्यापि" इति पाठान्तरद्वयम्।

‡ "अत्र भाष्यकृत्" इत्यारभ्य "प्रतिहन्तुम् इति" इत्यन्तः पाठः पुस्तकविशेषे नास्ति।

"शक्या भङ्क्तुं भ्रुटिति विसिनीकन्दवच्चन्द्रपादाः।" ॥ ११ ॥

इत्यपि भवति।

## हानिवदाधिक्यमप्यङ्गानां विकारः ॥२४॥

"येनाङ्गविकारः" इत्यत्र सूत्रे यथाङ्गानां हानिः, तथा आधिक्यमपि विकारः। (व) यथा—"अक्ष्णा काणः" इति भवति, तथा "मुखेन विलोचनः" इत्यपि भवति।

## न क्षुमिकीटानामिति, एकवद्भावप्रसङ्गात् (श)॥२५॥

"आयुषः क्षुमिकीटानामलङ्करणमल्पता" ॥ १२ ॥

इत्यत्र क्षुमिकीटानामिति प्रयोगो न युक्तः, "क्षुद्रजन्तवः" (२।४।८ पा०) इत्येकवद्भावप्रसङ्गात्। न च मध्यमपदलोपी समासो युक्तः, तस्य असर्वविषयत्वात्। (ष)

## न खरोष्ट्रौ, उष्ट्रखरमिति पाठात् ॥ २६ ॥

"खरोष्ट्रो वाहनं येषाम्" इत्यत्र खरोष्ट्राविति प्रयोगो न युक्तः, गवाश्वप्रभृतिषु "उष्ट्रखरम्" इति पाठात्। (स)

## आसेत्यसतेः (ह) ॥ २७ ॥

---

(व) हानिवदिति।—मुखेन विलोचन इत्यत्र तृतीयाप्राप्तावनुशासनस्यादर्शनात् कथमत्र तृतीयेति चिन्तायामाह, येनाङ्गविकार इति।—हानिः न्यूनता। यथा अङ्गानां न्यूनता विकारः, तथा आधिक्यमपि विकार एव, अतो "येनाङ्गविकारः" (२।३।२० पा०) इति तृतीया।

(श) न क्षुमीति।—स्पष्टम्।

क्षुद्रजन्तुवाचिनां द्वन्द्वसमासे एकवद्भावविधानात् बहुवचनाल्लप्रयोगो न साधुरित्याह—आयुष इति ॥ १२ ॥

(ष) ननु मुखसहिता नासिका मुखनासिकेतिवत् मध्यमपदलोपी समासः स्यादित्यपि न वक्तुं युक्तं, तस्य असार्वत्रिकत्वादिति समर्थयते—न चेति।

(स) न खरोष्ट्राविति।—गवाश्वादिगणे उष्ट्रखरमिति निपातितत्वात् खरोष्ट्राविति व्यत्यासेन प्रयोगोऽनुपपन्न इत्याह—खरोष्ट्रौ वाहनमिति।

(ह) आसेति।—स्पष्टम्।

"लावण्यमुत्पाद्य इवास यत्नः" ॥ १३ ॥

इत्यत्र आसेत्यसतेर्धातोः "अस गतिदीप्त्यादानेषु" इत्यस्य प्रयोगः, न अस्तेः, भूभावविधानात् ।

## युध्येदिति युधः क्यचि (क) ॥ २८ ॥

"यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्" ॥ १४ ॥

इति प्रयोगः, स च अयुक्तः, युधेरात्मनेपदित्वात् । तत्कथं युध्येत् ? इत्याह—युधः क्यचि—युधमात्मन इच्छेत् युध्येदिति । (ख)

## विरलायमानादिषु क्यङ् निरूप्यः ॥ २९ ॥

"विरलायमाने मलयमारुते" इत्यादिषु क्यङ् निरूप्यः, भृशादिषु पाठात् । नापि क्यष्, लोहितादिषु अपाठात् । (ग)

## अहेतौ हन्तेर्णिच्, चुरादिपाठात् ॥ ३० ॥

"घातयित्वा दशास्यम्" इत्यत्र अहेतौ णिच् दृश्यते, स कथम् ? इत्याह—चुरादिपाठात् ; चुरादिषु "चट स्फुटभेदे" "घट सङ्घाते" "हन्त्यर्थाश्च" (ग०) इति पाठात् । (घ)

---

"अस्तेर्भूः" ( २।४।५२ पा० ) इत्यार्द्धधातुके भूभावविधानात् कथमासेति प्रयोग इति प्राप्ते, असतेर्धातोर्लिटि रूपमासेति, न पुनरस्तेरित्याह—लावण्यम् इति ॥१३॥

( क ) युध्येदिति ।—स्पष्टम् ।

युधेरात्मनेपदिनः परस्मैपदं दृश्यते । तस्य शिष्टप्रयोगस्य साधुत्वं दर्शयितुमाह—य इति ॥ १४ ॥

( ख ) युधशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्" ( ३।१।८ पा० ) इति क्यचप्रत्यये कृते सति लिङि युध्येदिति सिध्यतीत्याह—युधमिति ।

( ग ) विरलायमानादिष्विति ।—क्यङ्क्यषोरप्राप्तत्वात् प्रत्याचष्टे—विरलायमाने इति ।

( घ ) अहेताविति ।—घातयित्वेत्यत्र अहेतुकर्तृभावेऽपि प्रयोगो दृश्यते, स च चुरादिपाठात् स्वार्थण्यन्तः साधुरित्याह— घातयित्वेति ।

## अनुचरीति चरेष्टित्वात् ॥ ३१ ॥

"अनुचरो प्रियतमा मदालसा" इत्यत्रानुचरीति न युक्तः, ईकारलक्षणाभावात् *। तत्कथम्? आह—चरेष्टित्वात्। पचादिषु चरट् इति पठ्यते। (ङ)

## केसरालमित्यलतेरणि ॥ ३२ ॥

"केशरालं शिलीन्ध्रम्" † इत्यत्र केशरालमिति कथम्? आह—अलतेरणि। "अल भूषणपर्य्याप्तिवारणेषु" इत्यस्मात् धातोः केसरशब्दे कर्मण्युपपदे "कर्मण्यण्" (३।२।१ पा०) इत्यनेन अणि सति केसरालमिति सिध्यति। (च)

## पत्रलमिति लातेः के ॥ ३३ ॥

"पत्रलं वनमिदं विराजते" इत्यत्र पत्रलमिति कथम्? आह—लातेः के। "ला आदाने" इत्येतस्माद्धातोरादानार्थात् पत्रशब्दे कर्मण्युपपदे "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कप्रत्यये सतीति। (छ)

---

(ङ) अनुचरीति।—आचेपपूर्वकमनुचरीति पदस्य साधुत्वं समर्थयते—अनुचरी प्रियतमेति। ईकारलक्षणाभावादिति।—पचाद्यजन्तत्वेन ङीप्प्राप्तेरभावादित्यर्थः।

(च) केसरशब्दस्य प्राण्युद्भवाच्चित्वाकारान्तत्वयोरभावात् "प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्" (५।२।९९ पा०) इति लजभावात् कथं केसरालमिति प्राप्ते, तदुपपत्तिं वक्तुमाह—केसरालमिति। वृत्तिः स्पष्टार्था।

(छ) पत्रशब्दः सिध्मादिषु न पठ्यते इति "सिध्मादिभ्यश्च" (५।२।९७ पा०) इति नास्ति लच्प्रत्यय इति कथं पत्रलमिति चिन्तायां साधुत्वं समर्थयते—पचलमिति। पत्राणि लाति आदत्ते इति विग्रहे "आतोऽनुपसर्गे कः" (३।२।३ पा०) इति कप्रत्यये सति उपपदसमासे कृते पत्रलमिति सिद्धमित्याह—पत्रलं वनमिति।

---

* "ईकारलक्षणाभावात्" इत्यत्र "ईकाराभावात्" इति पाठान्तरम्।

† "शिलीन्ध्रम्" इत्यत्र "शिलीध्रम्" इति पाठभेदः।

## महीध्रादयो मूलविभुजादिदर्शनात् ॥ ३४ ॥

महीध्रधरणीध्रादयः शब्दा मूलविभुजादिदर्शनात् कप्रत्यये सतीति। महीं धरतीति महीध्र इति। एवमादयोऽन्येऽपि द्रष्टव्याः। (ज)

## ब्रह्मादिषु हन्तेर्नियमादरिहादयसिद्धिः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मादिषु उपपदेषु हन्तेः क्विब्विधौ "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु—" इत्यत्र अरिहा रिपुहा इत्येवमादीनामसिद्धिः, नियमात्। "ब्रह्मादिष्वेव, हन्तेरेव, क्विबेव, भूतकाले एवेति चतुर्विधश्चात्र नियमः" ("ब्रह्म—" इत्यादि सूत्रस्य हन्तौ काशिकावाक्यम्) इति नियमान्यतरविषयो निरूप्यः *। (झ)

## ब्रह्मविदादयः कृदन्तवृत्त्या ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवित् वृत्रभिदित्यादयः प्रयोगा न युक्ताः। "ब्रह्मभ्रूण—" इत्यादिषु † "हन्तेरेव" इति नियमात्। आह—कृदन्तवृत्त्या। वेत्तीति वित्। भिनत्तीति भित्। "क्विप् च" (३।२।७६

---

(ज) महीध्रादय इति।—महीं धरतीति विग्रहे मूलविभुजादेराकृतिगणत्वात् कप्रत्यये कृते कित्त्वेन गुणाभावाद्दयणादेशे सति महीध्रादयः सिद्धा इत्याह—महीध्र-धरणीध्रादय इति।

(झ) ब्रह्मादिष्विति।—"ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्" (३।२।८७ पा०) इत्यत्र ब्रह्मादिष्वेवोपपदेषु भूते एव काले हन्तेरेव धातोः क्विबेव प्रत्ययो भवतीत्युपपदकाल-धातुप्रत्ययविषयस्य चतुर्धानियमस्यानुशिष्टत्वात् अरिहित्यादीनामसिद्धिरित्याह—ब्रह्मादिष्वुपपदेष्विति।

---

* "इत्यत्र" इत्यनन्तरं "नियमात् ब्रह्मादिष्वेव, हन्तेरेव, क्विबेव, भूतकाले एवेति चतुर्विधश्चात्र नियम इति नियमात् अरिहा रिपुहा इत्येवमादीनामसिद्धिः" इति-त्रपाठः क्वचित् पुस्तके दृश्यते।

† "इत्यादिषु" इत्यत्र "इत्यत्र ब्रह्मादिषु" इति पाठभेदः।

पा० ) इति क्विप्। ततः क्रदन्तैर्विदादिभिः सह ब्रह्मादीनां षष्ठीसमास इति। (ञ)

## तैर्महीधरादयो व्याख्याताः ॥ ३७ ॥

तैर्विदादिभिः * महीधरादयो व्याख्याताः। धरतीति धरः। मह्या धरो महीधरः। एवं गङ्गाधरादयो व्याख्याताः। (ट)

## भिदुरादयः कर्मकर्त्तरि कर्त्तरि च ॥ ३८ ॥

"भिदुरं काष्ठम्" "भिदुरं तमः" "तिमिरभिदुरं व्योम्नः शृङ्गम्—" इति। "क्षिदुरातपो दिवसः" "मत्सरच्छिदुरं प्रेम" "भङ्गुरा प्रीतिः" "मातङ्गं मानभङ्गुरम्" इत्यादयो हि प्रयोगा दृश्यन्ते। कथम् ? इत्याह—ते कर्मकर्त्तरि कर्त्तरि च भवन्ति। "कर्मकर्त्तरि चायमिष्यते" (भा०) इत्यत्र हि चकारः "कर्त्तरि च" इत्यस्य समुच्चयार्थः। (ठ)

## गुणविस्तरादयश्चिन्त्याः ॥ ३९ ॥

---

(ञ) ननु तर्हि चतुर्ष्वानियमाश्रयणे ब्रह्मविदादीनां का गतिरिति प्राह, प्राह—ब्रह्मवित् ब्रह्मभिदिति। उपपदकालनैरपेक्ष्येण क्विपि सति समासान्तराश्रयणेन ब्रह्मविदादयः सिध्यन्तीति व्याचष्टे, वेत्तीति।—वेत्तीति वित्, भिनत्तीति भिदिति व्युत्पत्तिसिद्धेन क्रदन्तेन सह षष्ठीसमासे सति ब्रह्मविदादीनां साधुत्वमित्यर्थः।

(ट) उक्तामेतां युक्तिमन्यत्रापि योजयति—तैरिति। अत्र "कर्मण्यण्" (३।२।१ पा०) इति सूत्रेण कर्मण्युपपदे धातोरण्विधानान्महीधरादीनामसाधुत्वशङ्कायामिहाप्युपपदनैरपेक्ष्यषष्ठीसमासाश्रयणाभ्यां साधुत्वमस्तीति व्याचष्टे—धरतीति धर इति।

(ठ) भिदुरादय इति।—"कर्मकर्त्तरि चायमिष्यते" (भा०) इत्यत्र चकारं प्रयुक्तवता तवभवता भाष्यकृता कर्त्तर्यपि प्रयोगोऽभ्यनुज्ञात इति भिदुरादयः शब्दाः कर्मकर्त्तरि, कर्त्तरि च प्रयोक्तव्या इत्याह—भिदुरं काष्ठमिति।

---

* "तैर्ब्रह्मविदादिभिः" इति पाठान्तरम्।

"गुणविस्तरः" "व्याक्षेपविस्तरः" इत्यादयः प्रयोगाश्चिन्त्याः, "प्रथने वावशब्दे" इति घञ्-प्रसङ्गात्। (ड)

**अवतरापचायशब्दयोर्दीर्घव्यत्यासो बालानाम् ॥४०॥**

अवतरशब्दस्यापचायशब्दस्य च दीर्घत्वह्रस्वत्वयोर्व्यत्यासो बालानां बालिशानां प्रयोगेष्विति। ते ह्यवतरणमवतार इति प्रयुञ्जते,—मारुतावतार इति; स ह्ययुक्तः, भावे तरतेरब्विधानात्। अपचायमपचय इति प्रयुञ्जते,—पुष्पापचय इति *। अत्र "हस्तादाने चेरस्तेये" इति घञ् प्राप्त इति। (ढ)

**शोभेति निपातनात् ॥ ४१ ॥**

शोभेत्ययं शब्दः साधुः, निपातनात्। "शुभ शुम्भ शोभार्थौ" इति शुभेर्भिदादेराकृतिगणत्वादङ् सिद्ध एव। गुणप्रतिषेधाभावस्तु निपात्यते इति। शोभार्थावित्यत्रैकदेशे किं शोभा, आहोस्विच्छोभ इति विशेषावगतिराचार्यपरम्परोपदेशादिति। (ण)

(ड) गुणविस्तरादय इति।—"प्रथने वावशब्दे" (३।३।३३ पा०) इति विपूर्वात् स्तृणातेरशब्दविषये प्रथने घञ्विधानाद्गुणविस्तार इत्येव प्रयोक्तव्यं, न तु गुणविस्तर इतीत्याह—प्रथने इति।

(ढ) दीर्घव्यत्यास इति।—दीर्घस्य स्थानात् प्रच्याव्य अस्थाने करणं व्यत्यासः। बालाना विमर्शावधुराणां, भवतीति शेषः। तमेव व्यत्यासं दर्शयति—ते ह्रीति। अब्विधानादिति।—"अवे तॄस्त्रोर्घञ्" (३।३।१२० पा०) इति करणाधिकरणयोरेव घञ्विधानात् तरतेः "ऋदोरप्" (३।३।५७ पा०) इति भावे अप्प्रत्यय एव भवतीत्यर्थः। अपचायमिति।—"हस्तादाने चेरस्तेये" (३।३।४० पा०) इति हस्तेन आदानेऽभिधेये चिनोतेर्घञ्विधानात् अप्प्रत्ययो न प्राप्नोतीत्यर्थः।

(ण) शोभेति।—"षिद्भिदादिभ्योऽङ्" (३।३।१०४ पा०) इति शुभेर्धातो-

* अत्र सूत्रे "अपचाय" "दीर्घव्यत्यासः" इत्येतयोः "अवचाय" "दीर्घह्रस्वव्यत्यासः" इति तथा वृत्तौ च "अपचायशब्दस्य" "अपचायमपचयः" "पुष्पापचयः" इत्येतेषु क्रमशः "अवचायशब्दस्य" "अवचयनमवचयः" "पुष्पावचयः" इत्येतानि पाठान्तराणि।

**अविधौ गुरोः स्त्रियां बहुलं विवक्षा ॥ ४२ ॥**

अविधावविधाने "गुरोश्च हलः" (३।३।१०३ पा०) इति * स्त्रियां बहुलं विवक्षा। क्वचिद्विवक्षा, क्वचिदविवक्षा, क्वचिदुभयमिति। (त)

विवक्षा यथा—ईहा लज्जेति। अविवक्षा यथा—आतङ्क इति। विवक्षाविवक्षे यथा—बाधा बाधः, ऊहा ऊहः, व्रीड़ा व्रीड़ः इति। (थ)

**व्यवसितादिषु क्तः कर्त्तरि चकारात् ॥ ४३॥**

व्यवसितः प्रतिपन्न इत्यादिषु भावकर्मविहितोऽपि क्तः कर्त्तरि। गत्यादिसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्। भावकर्मानुकर्षणार्थत्वं चकारस्येति चेत्, आवृत्तिः कर्त्तव्या। (द)

**आहेति भूतेऽन्यणलन्तभ्रमाद् ब्रुवो लटि॥४४॥**

"ब्रुवः पञ्चानाम्—" इत्यादिना आहेति लव्युत्पादितः।

---

भिदादिषु पाठादङ्प्रत्यये सति ङित्करणेन गुणप्रतिषेधे प्रसक्ते निपातनाङ्गुणसङ्ज्ञेत्याह—श्रोभेत्ययं शब्द इति।

(त) अविधाविति।—बहुलग्रहणस्य विवक्षितमर्थमाह—क्वचिद्विवक्षा क्वचिदविवक्षा क्वचिदुभयमिति।

(थ) आतङ्क इत्यादिषु स्त्रीत्वस्य अविवक्षितत्वात् घञेव भवति।

(द) व्यवसितादिष्विति।—व्यवसितः, प्रतिपन्न इत्यादिषु कर्त्तरि क्तप्रत्ययो न प्राप्नोति, सकर्मकेभ्यो धातुभ्यः कर्मणि क्तप्रत्ययविधानात्, "गत्यर्थाद—" (३।४ ७२ पा०) सूत्रेण चाप्राप्तेरिति प्राप्ते गत्यर्थादिसूत्रे चकारेणानुक्तसमुच्चयार्थेन व्यवसितिप्रभृतयः समुच्चीयन्ते इत्याह—व्यवसित इति। ननु भावकर्मणोरनुकर्षणार्थश्चकारः कथमन्यदप्यनुक्तं समुच्चिनुयादिति शङ्कते—भावकर्मेति। समाधत्ते, आवृत्तिरिति।—चकारस्यावृत्तौ भावकर्मणोरनुकर्षणार्थ एकश्चकारः, अन्यः पुनरनुक्तसमुच्चयार्थ इति येन केनाप्युपायेन शिष्टप्रयोगस्य गतिः कल्पनीयेत्यर्थः।

---

* "अविधौ गुरोश्च हलः इति अविधाने" इति पाठव्यतिकरः क्वचित्।

स भूते प्रयुक्तः, "इत्याह भगवान् प्रभुः" इति। अन्यस्य भूतकालाभिधायिनो णलन्तस्य लिटि भ्रमात्। निपुणाश्चैवं प्रयुञ्जते—"आह स्म स्मितमधुमधुराक्षरां * गिरम्" इति। "अनुकरोति भगवतो नारायणस्य" इत्यत्रापि मन्ये, "स्म" शब्दः कविना प्रयुक्तो लेखकैस्तु प्रमादान्न लिखित इति। (ध)

## शबलादिभ्यः स्त्रियां टापोऽप्राप्तिः (न) ॥४५॥

"उपस्रोतः स्वस्थस्मितमहिषशृङ्गायशबलाः
स्रवन्तीनां जाताः प्रसुदितविहङ्गास्तटभुवः" ॥ १५ ॥

"भ्रमरीत्करकल्माषाः कुसुमानां समुच्चयः" ॥ १६ ॥

इत्यादिषु शबलादिभ्यः † स्त्रियां टापोऽप्राप्तिः, "अन्यतो ङीष्" इति ङीष्विधानात्। तेन शबलो कल्माषीति भवति।

## प्राणिनि नीलेति चिन्त्यम् (प) ॥ ४६ ॥

---

(ध) आहेति।—"किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः" इत्यादिषु आहेति भूते प्रयुज्यते, स च प्रयोगोऽनुपपन्नः "ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः" (३।४।८४ पा०) इति ब्रुवो लटि णलाद्यादेशपञ्चकविधानात्। अन्यस्य लन्तेति।—लिटि विहितो यो णल् तदन्तत्वभ्रान्तिमूलोऽयं प्रयोग इत्यर्थः। आहेत्यव्ययमिति केचित् समादधते। शिष्टप्रयोगशैलीं दर्शयति, निपुणाश्चेति।—"लट् स्मे" (३।२।११८ पा०) इति लटो विधानात्। प्रसङ्गादन्यत्रापि भूतार्थे लट्प्रयोगस्यौपपत्तिमाह—अनुकरोतीति।

(न) शबलादिभ्य इति।—"अन्यतो ङीष्" (४।१।४० पा०) इति ङीष्-विधानाच्छबलकल्माषादिभ्यः स्त्रियां टाप्प्रत्ययस्याप्राप्तिरिति।

तथा प्रयोगं प्रदर्श्य प्रतिषेधति—उपस्रोत इति ॥ १५—१६ ॥

(प) प्राणिनीति।—स्पष्टम्।

---

* सूत्रवृत्त्योरुभयत्रापि "णलन्त" इत्यत्र "लङन्त" तथा "लट्युत्पादितः" इत्यत्र "लट्युत्पादितः" "स्मितमधुमधुराक्षराम्" इत्यत्र "स्मितमधुराक्षराम्" इति पाठभेदः।

† क्वचित् "शबलादिभ्यः" इति पाठो न दृश्यते।

"कुवलयदलनीला कोकिला बालचूते" ॥ १७ ॥

इत्यादिषु नीलेति चिन्त्यम्। कोकिला नीलीति भवितव्यम्; नीलशब्दात् "जानपद—" ( ४।१।४२ पा० ) इत्यादिसूत्रेण "प्राणिनि च" इति ङीष्विधानात्।

## मनुष्यजातेर्विवक्षाविवक्षे ॥ ४७ ॥

"इतो मनुष्यजातेः" "ऊङुतः" इत्यत्र मनुष्यजातेर्विवक्षा अविवक्षा च लक्ष्यानुसारतः। (फ)

"मन्दरस्य मदिराक्षि ! पार्श्वतो निम्ननाभि ! न भवन्ति निम्नगाः।
वासु ! वासुकिविकर्षणोऽद्य वा भामिनीह पदवी विभाव्यते" ॥ १८ ॥

अत्र मनुष्यजातेर्विवक्षायाम् "इतो मनुष्यजातेः" इति ङीषि सति "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" इति सम्बुद्धौ ह्रस्वत्वं सिध्यति। नाभिशब्दात्पुनः "इतश्च प्राण्यङ्गात्" इतीकारे कृते निम्ननाभीके इति * स्यात्। (ब)

---

जानपदादिसूत्रे वृत्तिकारेण "नीलादोषधौ" ( वा० ) "प्राणिनि च" ( वा० ) इति विषयव्यवस्थापनात् प्राणिनि विषये नीलशब्दात् ङीष्प्रत्ययः प्राप्तः, न तु टाप्; अतः प्राणिनि विषये नीलेति न प्रयोक्तव्यमित्याह—कुवलयेति ॥ १७ ॥

( फ ) मनुष्यजातेरिति।—निम्ननाभिसुतनुप्रभृतिषु यदि मनुष्यजातित्वमभ्युपेयते, तदा "इतो मनुष्यजातेः" ( ४।१।६५ पा० ) "ऊङुतः" ( ४।१।६६ पा० ) इति ङीषूऊत्प्रत्यययोः प्राप्तौ निम्ननाभेः, सुतनोरित्यादयः प्रयोगा न सिध्येयुः। यदि नाभ्युपेयते, तर्हि सम्बुद्धौ निम्ननाभि, सुतनु इत्यादयः प्रयोगा न सिद्धाः स्युः, ततः कथं प्रयोगव्यवस्थेति विचारणायामुभयत्र साधुत्वं व्यवस्थापयति—इतो मनुष्यजातेरिति।

"वक्तुर्विवक्षितपूर्विका हि शब्दप्रवृत्तिः" इति न्यायेन मनुष्यजातेर्विद्यमानायाः अपि क्वचिदविवक्षा, क्वचिदविवक्षा चेति लक्ष्यानुसारेणोत्प्रेक्षणीयेति प्रयोगदर्शनपूर्वकं विवक्षाविवक्षे व्युत्पादयति—मन्दरस्येति ॥ १८ ॥

( ब ) अत्र मनुष्यजातिविवक्षायां रूपसिद्धिं दर्शयति—इतो मनुष्यजातेरिति। ननु "इतश्च प्राण्यङ्गवाचिनो वा वक्तव्यः" इति नाभिशब्दादीकारे कृते "अम्बार्थ-

---

* "निम्ननाभीके इति" इत्यत्र "निम्ननाभीकेति" इति पाठान्तरम्।

"हृतोष्टरागैर्नयनोदबिन्दुभिर्निमग्ननाभैर्निपतद्भिरङ्कितम्।
च्युतं रुषा भिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्यामसिदं ननांशुकम्" ॥ १९ ॥

अत्र निमग्ननाभेरिति मनुष्यजातेरविवक्षेति ङीष् न कृतः।

"सुतनु! जहिहि कोपं * पश्य पादानतं माम्" ॥ २० ॥

इत्यत्र मनुष्यजातेर्विवक्षेति सुतनुशब्दात् "ऊङुतः" इत्यूङि सति ह्रस्वत्वे सुतन्विति सिध्यति।

"वरतनुरथवाऽसौ + नैव दृष्टा त्वया मे" ॥ २१ ॥

अत्र मनुष्यजातेरविवक्षेत्यूङ् न कृतः।

## ऊकारान्तादप्यूङ्प्रवृत्तेः ॥ ४८ ॥

उत ऊङ् विहितः; ऊकारान्तादपि क्वचिद्भवति, आचार्य्यप्रवृत्तेः। कासौ प्रवृत्तिः? "अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्" इति। अलाबूः कर्कन्धूरिति उदाहरणम्। तेन "सुभ्रु! किं सम्भ्रमेण"। अत्र सुभ्रुशब्द ऊङि सिद्धो भवति। ऊङि त्वसति सुभ्रूरिति स्यात्। (भ)

---

नद्योर्ह्रस्वः" (७।३।१०७ पा०) इति ह्रस्वत्वे च कृते निम्ननाभीति सम्बुद्धिः सिध्यति; किमनेन यत्नेनेति चेत तत्राह, नाभिशब्दादिति।—निम्ननाभीत्यत्र बहुव्रीहिसमासे "नदृतश्च" (५।४।१५३ पा०) इति कपा समासान्तेन "न कपि" (७।४।१४ पा०) इति ह्रस्वत्वप्रतिषेधेन च भवितव्यम्। ततश्च निम्ननाभीके इति स्यात्, न तु निम्ननाभि इति।

इतो मनुष्यजातेः क्वचिदविवक्षां दर्शयति—हृतोष्टरागैरिति ॥ १९ ॥

उक्तन्यायेन सुतनुशब्दादौ विवक्षाविवक्षे दर्शयति—सुतनु जहिहीति ॥ २० ॥

(भ) ऊकारान्तादपीति।—यद्यपि "ऊङुतः" (४।१।६६ पा०) इत्यत्र तपरकरणमुकारान्तादूङ्विधानार्थं कृतं, तथाऽप्याचार्य्यवचनसामर्थ्यादूकारान्तादप्यूङ् प्रवर्त्तते इत्याह—उत ऊङ् विहित इति। प्रश्नपूर्वकं प्रवृत्तिं दर्शयति, कासौ

---

* "कोपम्" इत्यत्र "मानम्" इति पाठान्तरम्।

+ "अथवाऽसौ" इत्यत्र "अथवाऽस्मिन्" इति पाठान्तरम्।

**कार्त्तिकीय इति ठञ् दुर्धरः ॥ ४९ ॥**

"कार्त्तिकीयो नभस्वान्" इत्यत्र "कालाट्ठञ्" इति ठञ् दुर्धरः। ठञ्भवनं * दुःखेन ध्रियते इति। (म)

**शार्वरमिति च ॥ ५० ॥**

"शार्वरं तमः" इत्यत्र च "कालाट्ठञ्" इति ठञ् दुर्धरः। (य)

**शाश्वतमिति प्रयुक्तेः ॥ ५१ ॥**

"शाश्वतं ज्योतिः" इत्यत्र शाश्वतमिति न सिध्यति। "कालात् ठञ्" ( ४।३।११ पा० ) इति ठञ्प्रसङ्गात्। "येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः" ( २।४।९ पा० ) इति सूत्रकारस्यापि प्रयोगः। आह—प्रयुक्तेः। "शाश्वते प्रतिषेधः" इति प्रयोगात् शाश्वतमिति भवति। (र)

**राजवंश्यादयः साध्वर्थे यति भवन्ति ॥ ५२ ॥**

---

प्रवृत्तिरिति।—प्रवृत्तिरारम्भः। अलाबूः, कर्कन्धूरित्युदाहरणसिद्ध्यर्थम् "अप्राणिजातेश्चारज्वादीनाम्" ( वा० ) इत्यूकारान्तादप्यूङ्प्रत्ययारम्भात्तत्परकरणमविवक्षितमिति ज्ञायते। ननु यदेतदूकारान्तादूङ्विधानं तत् पिष्टपेषणप्रायमिति शङ्कां परिहरति—तेनेति। सुभूशब्दादपि मनुष्यजातिविवक्षायामूङ्प्रत्यये नदीसंज्ञायां सम्बुद्धौ ङसौ भवतीति दर्शयति—अत्र सुभूशब्द इति।

( म ) कार्त्तिकीय इति।—अत्र कार्त्तिके भव इति भवार्थत्वं वक्तुं युक्तम्; तथात्वे "कालाट्ठञ्" ( ४।३।११ पा० ) इति शैषिकेष्वर्थेषु विधीयमानष्ठञ् दुर्निवारतया प्राप्नोति, अतः कार्त्तिकीय इति न सिध्यतीत्याह—अत्रेति। दुर्धर इति पदार्थमाह, दुःखेनेति।—दुर्निरोध इत्यर्थः।

( य ) शार्वरमिति।—अत्रापि ठञो दुर्धरत्वेन शार्वरमिति न सिध्यतीत्याह—शार्वरं तम इति।

( र ) "शाश्वते प्रतिषेधः" ( वा० ) इति वार्त्तिककारवचनादत्र अण्प्रत्यये सति शाश्वतमिति शब्दः साधुरित्याचीपपूर्वकं समर्थयते—शाश्वतं ज्योतिरिति।

---

* "ठञ् भवन्" इति क्वाचित्कः पाठः।

राजवंश्याः सूर्यवंश्या इत्यादयः शब्दाः "तत्र साधुः" इत्यनेन साध्वर्थे यति * प्रत्यये सति साधवो भवन्ति। भवार्थे पुनर्दिगादिपाठेऽपि वंशशब्दस्य वंशशब्दान्तान्न यत्प्रत्ययः। तदन्तविधेः प्रतिषेधात्। (ल)

## दारवशब्दो दुष्प्रयुक्तः ॥ ५३ ॥

"दारवं पात्रम्" इति दारवशब्दो दुष्प्रयुक्तः। "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः" इति मयटा भवितव्यम्। ननु विकारावयवयोरर्थयोर्मयड् विधीयते; अत्र तु दारुण इदमिति विवक्षायां दारवमिति भविष्यति। नैतदेवमपि स्यात्। "वृद्धाच्छः" इति च्छविधानात्। (व)

## सुश्लिष्मादिष्विमनिज् मृग्यः ॥ ५४ ॥

सुश्लिष्मा-प्रौढ़िमेत्यादिषु इमनिज् मृग्यः अन्वेषणीय इति। (श)

---

(ल) राजवंश्यादय इति।—वंशशब्दस्य दिगादिषु पाठात् "दिगादिभ्यो यत्" (४।३।५४ पा०) इति भवार्थे यत्प्रत्ययो विधीयते; स च वंशशब्दान्तान्न प्राप्नोति, "गहणवता प्रातिपदिकेन—" (वा०) इति तदन्तविधिप्रतिषेधात्। साध्वर्थविवक्षायान्तु "तत्र साधुः" (४।४।९८ पा०) इति यत्प्रत्यये सति राजवंश्यादयः सिद्धा इत्याह—राजवंश्या इति।

(व) दारवशब्द इति।—दारुणो विकार इत्यस्मिन्नर्थे "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः" (४।३।१४४ पा०) इति मयटो विधानात् दारुमयमिति प्रयोक्तव्यं, न तु दारवमितीत्याह—दारवं पात्रमिति। नन्वत्र विकारार्थो न विवक्षितः, किन्तु सम्बन्धसामान्यं, ततः "तस्येदम्" (४।३।१२० पा०) इति दारुशब्दादण्प्रत्यये कृते दारवमित्येवं भवतु, को विरोध इति शङ्कते—नन्विति। सम्बन्धसामान्यविवक्षायामप्यण्प्रत्ययो न सिध्यति, "वृद्धाच्छः" (४।२।११४ पा०) इति च्छप्रत्ययप्रसङ्गादिति परिहरति—नैतदेवमिति।

(श) सुश्लिष्मादिष्विति।—"पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा" (५।१।१२२ पा०) इती-

---

* सूत्रवृत्त्योरुभयत्रापि "यति" इत्यत्र "ये" इति पाठान्तरम्।

## औपम्यादयश्चातुर्वर्ण्यवत् ॥ ५५ ॥

औपम्यं सान्निध्यमित्यादयश्चातुर्वर्ण्यवत् "गुणवचन—" इत्यत्र "चातुर्वर्ण्यादीनां [स्वार्थे] उपसंख्यानम्" (वा०) इति वार्त्तिकात् स्वार्थिकष्यञन्ताः। (ष)

## ष्यञः षित्करणादीकारो बहुलम् ॥ ५६ ॥

"गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः—" इति यः ष्यञ्, तस्य षित्-करणादीकारो भवति बहुलम् *। ब्राह्मण्यमित्यादिषु न भवति। (स)

## सामग्र्यमित्यादिषु विकल्पेन † ॥ ५७ ॥

सामग्र्यं सामग्री। वैदग्ध्यं वैदग्धीति।

## धन्वीति व्रीह्यादिषु पाठात् ॥ ५८ ॥

व्रीह्यादिषु धन्वन्शब्दस्य ‡ पाठात् धन्वीति इनौ सति सिद्धो भवति। (ह)

---

मनिच्प्रत्ययो विधीयते। स च मुग्धप्रौढादिशब्देभ्यो न प्राप्नोति, तेषां पृथ्वादि-पाठाभावादित्यभिप्रायेण व्याचष्टे—मुग्धिमा प्रौढिमेति।

(ष) औपम्यादय इति।—"चातुर्वर्ण्यादयः स्वार्थे" (वा०) इति स्वार्थिके ष्यञि चातुर्वर्ण्यमिति यथा सिध्यति, तथा चातुर्वर्ण्यादिपाठादुपमैवौपम्यं सन्निधिरेव सान्निध्यमित्यादयः स्वार्थिकष्यञन्ताः साधिता इत्याह—औपम्यं सान्निध्यमिति।

(स) ष्यञ इति।—"गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" (५।१।१२४ पा०) इति ष्यञ् विधीयते, ततश्च ष्यञन्तेभ्यः स्त्रियां "षिद्गौरादिभ्यश्च" (४।१।४१ पा०) इति यो ङीष्प्रत्ययो विधीयते, स ईकारो बहुलं भवति क्वचिन्न प्रवर्त्तते, क्वचि-द्विकल्पेन प्रवर्त्तते इत्याह—ब्राह्मण्यमित्यादिष्विति।

(ह) धन्वीति।—धन्वन्शब्दस्य अदन्तत्वाभावात "अत इनिठनौ" (५।२।११५

---

* "भवति बहुलम्" इत्यत्र "भवति। स बहुलम्" इति पाठवैषम्यम्।

† "सामग्र्यम्—" इत्यादि सूत्रं पुस्तकान्तरे "सामग्र्यमित्यादिषु विकल्पितः" इत्येवं परिवृत्त्या वृत्तिमध्ये पठितं दृश्यते।

‡ "धन्वशब्दस्य" इति पाठान्तरम्।

## चतुरस्रशोभीति णिनौ ( क ) ॥ ५६ ॥

"बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन।" इति ॥ २१ ॥

अत्र चतुरस्रशोभि इति न युक्तं, व्रीह्यादिषु शोभाशब्दस्य पाठेऽपि इनिरत्र न सिध्यति, "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन" इति तदन्तविधिप्रतिषेधात्। भवतु वा तदन्तविधिः। कर्मधारयान्मत्वर्थीयानुपपत्तिः लघुत्वात् क्रमस्येति बहुव्रीहिणा एव भवितव्यम्। तत्कथं मत्वर्थीयस्य अप्राप्तौ चतुरस्रशोभीति प्रयोगः? आह—णिनौ। चतुरस्रं शोभते इति ताच्छीलिके णिनौ अयं प्रयोगः। अथ "अनुमेयशोभि" इति कथम्? न हि अत्र पूर्ववत् वृत्तिः शक्या कर्त्तुमिति, शुभेः साधुकारिण्यावश्यके वा णिनिं कृत्वा तदन्ताच्च भावप्रत्यये पश्चाद्बहुव्रीहिः, कर्त्तव्यः। अनुमेयं शोभित्वं यस्येति। भावप्रत्ययस्तु गतार्थत्वान्न प्रयुक्तः, यथा "निराकुलं तिष्ठति" "सधीरमुवाच" इति। (ख)

---

प्रा०) इतौनिप्रत्ययस्याप्राप्तौ व्रीह्यादेराकृतिगणत्वेनेनिप्रत्यये सति धन्वीति सिध्यतीत्याह—व्रीह्यादिष्विति।

( क ) चतुरस्रशोभीति।—स्पष्टम्।

अत्र साधुत्वं समर्थयिष्यमाणः प्रामाणिकप्रयोगं तावत् प्रदर्शयति—बभूवेति ॥२१॥

( ख ) अत्र मत्वर्थीयप्रत्ययस्यानुपपत्तिमाह, अत्र चतुरस्रशोभीति।—चतुरस्रा चासौ शोभा च चतुरस्रशोभा, सा अस्यास्तीति चतुरस्रशोभीति मत्वर्थीयेन न सिध्यति, व्रीह्यादिपाठाभावादिति शङ्कितुरभिप्रायः। अभ्युपगम्यमाने वा व्रीह्यादिपाठे "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन न तदन्तविधिः" ( वा० ) इति वार्त्तिककारवचनाच्छोभाशब्दान्तादिनिप्रत्ययो न प्राप्नोतीत्याह—व्रीह्यादिष्विति। यद्यकथञ्चिदभ्युपगमेऽपि वा तदन्तविधेः स दोषस्तदवस्थः, "न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः" इति निषेधादित्याह—भवतीति। कर्मधारयबहुव्रीहिक्रमपरीक्षायां बहुव्रीहिपरिपाटी श्रेयसी, लाघवात्, अतश्चिवगुशब्दादिवत् बहुव्रीहेर्न मत्वर्थीयस्य प्राप्तिरित्याह—लघुत्वादिति। प्रयोगानुपपत्तिप्रतिपादनं निगमयति—तत् कथमिति। चतुरस्रं शोभितं शीलमस्येति

## कञ्चुकीया इति क्यचि ॥ ६० ॥

"जीवन्ति राजमहिषोमनु कञ्चुकीयाः" इति कथम् ? मत्वर्थीयस्य च्छप्रत्ययस्याभावात्। आह *—क्यचि। क्यचि अच् † प्रत्यये सति कञ्चुकीया इति भवति। कञ्चुकमात्मन इच्छन्ति कञ्चुकीयाः। (ग)

## बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामप्यातिशायनिकाः ॥ ६१ ॥

बौद्धस्य प्रतियोगिनोऽपेक्षायामप्यातिशायनिकास्तरबादयो भवन्ति। "घनतरं तमः" "बहुलतरं प्रेम" इति। (घ)

---

विग्रहे "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" (३।२।७८ पा०) इति ताच्छीलिके णिनिप्रत्यये सति चतुरस्रशोभीति सिध्यतीति सिद्धान्तयति—चतुरस्रं शोभते इतीति। ननु चतुरस्रशोभीत्यत्र समर्थितेऽपि साधुत्वे अनुमेयशोभीति न सिध्यति, उक्तन्यायाप्रवृत्तेरिति शङ्कते—अथेति। तदप्रवृत्तिमेव दर्शयति, न च्यचेति।—चतुरस्रशोभीतिवदनुमेयं शोभितुं शीलमस्येति विग्रहे विवक्षितार्थासिद्धिः, कर्मविवक्षाया असम्भवात्। अविवक्षिते कर्मण्युपपदे कृत्यप्रत्ययः कर्तुं न शक्यते इति शङ्कार्थः। ताच्छीलिकणिन्यन्तस्यापि "साधुकारिणि च" (वा०) इति वक्तव्यबलात् "आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः" (३।३।१७० पा०) इति सूत्राद्वा साधुकारिण्यावश्यके वाऽर्थे विवक्षिते णिनिः सिध्यति। ततः शोभिनो भाव इति भावार्थे त्वप्रत्यये सति पश्चादनुमेयं शोभित्वं यस्येति बहुव्रीहौ सत्यनन्तरम् "उक्तार्थानामप्रयोगः" इति त्वप्रत्ययस्य निवृत्तौ च सत्याम् अनुमेयशोभीति सिध्यतीति परिहरति—शुभेरिति।

(ग) कञ्चुकीया इति।—कञ्चुका एषां सन्तीति कञ्चुकीया इति न शक्यते वक्तुं, छप्रत्ययस्य मत्वर्थीयस्याभावात्; कथं कञ्चुकीयाः ? इति चोदयति—जीवन्तीत्यादिना। कञ्चुकमात्मन इच्छन्तीत्यस्मिन्नर्थे "सुप आत्मनः क्यच्" (३।१।८ पा०) इति क्यचि कृते "क्यचि च" (७।४।३३ पा०) इतीकारे च सति ततः पचाद्यचि कृते कञ्चुकीया इति सिध्यतीति परिहरति—क्यचि अच्प्रत्यये सतीति।

(घ) बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामिति।—इदं घनम्, इदञ्च घनम्, इदमनयोर-

---

* "आह" इत्यत्र "अत्र आह" इति पाठान्तरम्।

† क्वचित् "अच्" इति पाठो न दृश्यते।

## कौशिलादय इलचि वर्णलोपात् ॥ ६२ ॥

कौशिलः वासिल इत्यादयः कथम्? आह—कौशिक-वासिष्ठादिभ्यः * शब्देभ्यो नीतावनुकम्पायां वा "घनिलचौ च" इति इलचि कृते "ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः" इति वर्णलोपात् सिध्यन्ति। (ङ)

## मौक्तिकमिति विनयादिपाठात् ॥ ६३ ॥

मुक्तैव मौक्तिकमिति विनयादिपाठाद्द्रष्टव्यम्। "स्वार्थिकाश्च प्रकृतितो लिङ्गवचनानि अतिवर्त्तन्ते" (भा०) इति नपुंसकत्वम्। (च)

## प्रातिभादयः प्रज्ञादिषु ॥ ६४ ॥

---

तिशयेन घनमिति विग्रहे शब्दोपात्तप्रतियोग्यपेक्षया अतिशायनार्थे तरबादिविधानादसति शब्दोपात्ते प्रतियोगिनि घनतरं तम इति प्रयोगः कथमिति चिन्तायां बुद्धिसन्निधापितेऽपि प्रतियोगिन्यातिशायनिकाः प्रत्यया भवन्तीति दर्शयति—बौद्धस्येति।

(ङ) कौशिलादय इति।—अनुकम्पितः कौशिकः, अनुकम्पितो वासिष्ठ इत्यस्मिन्नर्थे कौशिलो वासिलः इत्यादयः प्रयोगाः कथमिति विचारणायां साधुत्वं समर्थयते—कौशिलो वासिल इति। अत्र "घनिलचौ च" (५।३।७९ पा०) इति सूत्रेण अनुकम्पायां नीतौ वा बह्वचो मनुष्यनाम्नो घनिलचौ प्रत्ययौ विधीयेते; अतः कौशिकवासिष्ठशब्दाभ्यामुक्तलक्षणाभ्यामिलचि कृते "ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः" (५।३।८३ पा०) इत्यजादौ प्रत्यये परतः प्रकृतेर्द्वितीयादचः परस्य शब्दरूपस्य लोपे सति "यस्येति च" (६।४।१४८ पा०) इतीकारलोपे च कौशिलो वासिल इत्यादयः प्रयोगाः सिध्यन्तीति समर्थयते—कौशिकेति।

(च) मौक्तिकमिति।—विनयादिषु पाठेऽभ्युपगते "विनयादिभ्यष्ठक्" (५।४।३४ पा०) इति स्वार्थिके ठकि कृते मौक्तिकमिति सिध्यतीत्याह—मुक्तैव मौक्तिकमिति। अत्र प्रकृतिलिङ्गस्यातिक्रमणे भाष्यकारवचनं प्रमाणयति—स्वार्थिका इति।

---

* "कौशिकवासिष्ठादिभ्यः" इत्यस्मात् पूर्वम् "इलचि वर्णलोपात्" इत्यधिकः पाठः कुत्रचित् दृश्यते।

प्रातिभादयः शब्दाः प्रज्ञादिषु द्रष्टव्याः । प्रतिभा-विकृति-हितादिभ्यः शब्देभ्यः प्रज्ञादिपाठादपि स्वार्थिके कृते प्रातिभं, वैकृतं, हैतमित्यादयः प्रयोगाः सिध्यन्तीति । (क)

**न सरजसमित्यनव्ययीभावे ॥ ६५ ॥ (ज)**

"मधु सरजसं मध्ये पद्मं पिबन्ति शिलीमुखाः" ॥ २२ ॥

इत्यादिषु सरजसमिति न युक्तः प्रयोगोऽनव्ययीभावे । अव्ययीभावे एव सरजसशब्दस्य इष्टत्वात् । (झ)

**न धृतधनुषौत्यसंज्ञायाम् ॥ ६६ ॥**

"धृतधनुषि शौर्य्यशालिनि" इत्यत्र धृतधनुषौत्यसंज्ञायां न युक्तः प्रयोगः । "धनुषश्च" ( ५।४।१३२ पा० ) इत्यनङ्-विधानात् । संज्ञायां हि अनङ् विकल्पितः "वा संज्ञायाम्" ( ५।४।१३३ पा० ) इति । (ञ)

**दुर्गन्धिपदे दुर्दुर्लभः ॥ ६७ ॥**

---

( क ) प्रातिभादय इति ।—"प्रज्ञादिभ्यश्च" ( ५।४।३८ पा० ) इति स्वार्थिकोऽण् विधीयते । प्रतिभादीनामप्यत्र पाठाभ्युपगमेन स्वार्थिकेऽण्प्रत्यये कृते प्रातिभं वैकृतं हैतं चारित्रमित्यादयः सिध्यन्तीति व्याचष्टे—प्रातिभादयः शब्दा इति ।

( ज ) न सरजसमिति ।—स्पष्टम् ।

बहुव्रीहिप्रयोगो न साधुरिति दर्शयितुमाह—मधु सरजसमित्यादिना ॥ २२ ॥

( झ ) अनव्ययीभावे प्रयोगो न युक्तः । रजसा सह वर्त्तते इति सरजसमिति बहुव्रीहिसमासो न सिध्यति, तस्मिन् हि सति सरजस्कमिति स्यात् । अव्ययीभावे तु सिध्यति । "अव्ययं विभक्ति—" ( २।१।६ पा० ) इत्यादिना सादृश्यार्थे अव्ययीभावे कृते "अचतुर—" ( ५।४।७७ पा० ) इत्यादिसूत्रेणाकारान्तत्वनिपातनात् सरजसमिति भवति । तथा चाह वृत्तिकारः,—"तत एकोऽव्ययीभावः सादृश्ये । सरजसमभ्यवहरतीति, बहुव्रीहौ न भवति । रजसा सह वर्त्तते इति सरजस्कं पङ्कजमिति" इति ।

( ञ ) न धृतधनुषीति ।—निगदव्याख्याननमेतत् ।

"दुर्गन्धिः कायः" इत्यादिषु दुर्गन्धिपदे इत् समासान्तो दुर्लभः, उत्पूत्यादिषु दुःशब्दस्यापाठात्। (ट)

**सुदत्यादयः प्रतिविधेयाः ॥ ६८ ॥**

"सा दत्तरोषात् सुदती ससर्ज" इति, "शिखरदति पतति रशना" इत्यादिषु सुदत्यादयः शब्दाः प्रतिविधेयाः। दत्वादेशलक्षणाभावात्। तत्र प्रतिविधानम्—"अग्रान्त—" इत्यादिसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् सुदत्यादिषु दत्वादेशः" इत्येके। अन्ये तु वर्णयन्ति—"सुदत्यादयः स्त्र्यभिधायिनो योगरूढशब्दाः। तेषु "स्त्रियां संज्ञायाम्" इति दत्वादेशो विकल्पेन सिद्ध एव" इति। (ठ)

**दृतदृढोरस इति न कप्, तदन्तविधिप्रतिषेधात् ॥ ६९ ॥**

"प्लवङ्गनखकोटिभिः दृतदृढोरसो राक्षसाः" इति ॥ २३ ॥

अत्र दृढोरःशब्दात् "उरःप्रभृतिभ्यः कप्" (५।४।१५१

---

(ट) दुर्गन्धिपदे इति।—"गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" (५।४।१३५ पा०) इति उदादिभ्यश्चतुर्भ्यः परस्य गन्धशब्दस्य समासान्तविधानात् उदादिषु दुरो ग्रहणाभावात् दुर्गन्धिरिति प्रयोगो न साधुरिति दर्शयति—दुर्गन्धिः काय इति।

(ठ) सुदत्यादय इति।—वयस्यविवक्षिते दत्वादेशप्राप्तेरभावेऽपि शिष्टप्रयुक्तत्वात् सुदत्यादयः, प्रतिविधेयाः समाधेयाः। अत्र केचित्—"अग्रान्त—" (५।४।१४५ पा०) इत्यादिसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् अहिदन्त्यादिष्विव दत्वादेशे कृते "उगितश्च" (४।१।६ पा०) इति ङीपि सति सुदत्यादयः सिध्यन्तीति प्रतिविदधते। अपरे तु—स्त्रीमात्राभिधायिनो योगरूढाः सुदत्यादय इति, "स्त्रियां संज्ञायाम्" (५।४।१४३ पा०) इति दत्वादेशे सिध्यन्तीति वदन्तीत्यभिप्रायेण व्याचष्टे—सा दत्तरोषादित्यादिना।

दृतदृढोरस इत्यस्य साधुत्वं समर्थयितुं प्रथमं तावत् प्रामाणिकप्रयोगं प्रदर्शयति—प्लवङ्गेति ॥ २३ ॥

पा० ) इति कप् न कृतः। "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन" इति तदन्तविधेः प्रतिषेधात्। वाक्यन्तु एवं कर्त्तव्यम्—चतं दृढ़ोरो येषामिति। (ङ)

**अवैहीति वृद्धिरवद्या ॥ ७० ॥**

अवैहीत्यत्र वृद्धिरवद्या। गुण एव युक्त इति। (ढ)

**अपाङ्गनेवेति लुगलभ्यः ॥ ७१ ॥**

अपाङ्गे नेत्रं * यस्याः सा इयम् अपाङ्गनेवेत्यत्र लुगलभ्यः। "अमूर्द्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे" इति सप्तम्या अलुग्विधानात्। (ण)

**नेष्टाः श्लिष्टप्रियादयः, पुंवद्भावप्रतिषेधात् ॥७२॥**

---

(ङ) ननु बहुव्रीहौ समासे उरःप्रभृतिभ्यो नित्यं कप्विधानात् चतदृढ़ोरस्क इति कपा भवितव्यमिति प्राप्ते, कवभावे कारणं कथयितुमाह, उरःप्रभृतिभ्य इति।—"ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नेष्यते" इति वचनादुरःशब्दान्तात् कप्प्रत्ययो न भवति। तथा च विग्रहवाक्यमेवं कर्त्तव्यम्—दृढ़श्च तदुरश्च दृढ़ोरः, चतं दृढ़ोरो येषामिति ; अतः चतदृढ़ोरस इति सिध्यतीत्यर्थः।

(ढ) अवैहीति।—अवैहीत्यत्र इणो लोण्मध्यमपुरुषे, "सेर्ह्यपिच्च" ( ३।४।८७ पा० ) इति ह्यादेशे सति ङिदङ्गभावात् गुणाभावे, इहीति रूपम्। ततश्चावशब्दस्य प्राक्प्रयोगे "आद्गुणः" ( ६।१।८७ पा० ) इति गुणे सति, अवेहीति भवति। "एत्येधत्यूठ्सु" ( ६।१।८९ पा० ) इत्यत्र एतेरिचि इत्यनुवर्त्तनात् वृद्धिर्न भवति। नन्वाङोरुभयोरुपसर्गयोः प्राक्प्रयोगे वृद्धिः सिध्यतीति न चोदनीयम्, "ओमाङोश्च" ( ६।१।९५ पा० ) इति पररूपप्रसङ्गात्। तस्मादवैहीत्यत्र वृद्धिरसाधीयसीत्यर्थः।

(ण) अपाङ्गनेवेति।—नेत्रशब्देन समुदायवाचिना तदेकदेशः कनीनिका लक्ष्यते। ततश्चापाङ्गे नेत्रं कनीनिका यस्याः सा अपाङ्गनेवेति प्रयोक्तव्यम् ; न तु अपाङ्गनेवेति, "अमूर्द्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे" ( ६।३।१२ पा० ) इति नित्यं सप्तम्या अलुग्विधानादित्यभिप्रायवानाह—अपाङ्गे नेत्रमिति।

---

* "नेत्रम्" इत्यत्र "नेत्रे" इति पाठान्तरम्।

श्लिष्टप्रियः विश्लिष्टकान्तः * इत्यादयो न इष्टाः। "स्त्रियां पुंवत्" इति पुंवद्भावस्य प्रियादिषु निषेधात्। (त)

**दृढ़भक्तिरसौ सर्वत्रेति † ॥ ७३ ॥**

"दृढ़भक्तिरसौ ज्येष्ठे" अत्र पूर्वपदस्य "स्त्रियाम्" इत्यविवक्षितत्वात् ‡। (थ)

**जम्बुलतादयो § ह्रस्वविधेः ॥ ७४ ॥**

जम्बुलतादयः प्रयोगाः कथम् ? ¶ आह—ह्रस्वविधेः। "इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य" इति ह्रस्वविधानात्। (द)

---

(त) नेष्टा इति।—श्लिष्टा प्रिया येन, विश्लिष्टा कान्ता यस्मात् सः, श्लिष्टप्रियः, विश्लिष्टकान्त इत्यादयः प्रयोगा इष्टा न भवन्ति, "स्त्रियाः पुंवत्—" (६।३।३४ पा०) इत्यादिसूत्रे प्रियादिषु पुंवद्भावप्रतिषेधादिति दर्शयति—श्लिष्टप्रिय इत्यादिना।

(थ) दृढ़भक्तिरिति।—अत्र भक्तिशब्दस्य प्रियादिपाठात् पूर्वपदस्य पुंवद्भावो दुर्घट इति प्राप्ते पूर्वपदस्य दृढ़शब्दस्य विग्रहवाक्ये स्त्रीत्वस्याविवक्षितत्वात् दृढ़भक्तिरिति सिध्यतीत्याह, अत्रेति।—तथाचाह वृत्तिकारः,—"दृढ़भक्तिरित्येवमादिषु पूर्वपदस्य स्त्रीत्वस्याविवक्षितत्वात् सिद्धमिति समाधेयम्" इति। गणव्याख्यानकारोऽपि—"दृढ़ं भक्तिरस्येति नपुंसकपूर्वपदो बहुव्रीहिः" इति। न्यासकारोऽपि,—"अदार्ढ्यनिवृत्तिपरे दृढ़शब्दे लिङ्गविशेषस्यानुपकारकत्वात् स्त्रीत्वमविवक्षितमेव। तस्मादस्त्रीलिङ्गस्यैव दृढशब्दस्यायं प्रयोग इत्यभिप्रायः" इति। भोजराजस्त्वन्यथा समाधत्ते—"भक्तौ च कर्मसाधनायाम्" इत्यत्र सूत्रे—"कर्मसाधनस्यैव भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठात् भवानीभक्तिरित्यादौ पुंवद्भावप्रतिषेधः। दृढ़भक्तिरित्यादौ भावसाधनत्वात् पुंवद्भावे सिद्धे स्त्रीपूर्वपदत्वमेव" इति।

(द) जम्बुलतादय इति।—"इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य" (६।३।६१ पा०)

---

* "विश्लिष्टकान्तः" इत्यत्र "द्वेष्यकान्तः" इति पाठान्तरमयुक्तम्।

† "दृढ़भक्तिरिति सर्वत्र" इति पाठान्तरम्।

‡ "स्त्रियामित्यविवक्षितत्वात्" इत्यत्र "अस्त्रियां विवक्षितत्वात्" इति पाठभेदः।

§ "जलजम्बुलतादयः" इति पाठः क्वचित्।

¶ "जलजम्बुलताविलाः सवन्त्यः" "अग्रे कर्कन्धुग्रहणम् इत्यादिषु कथं जलजम्बुलतादयः प्रयोगाः" इत्यधिकः पाठः क्वचित् दृश्यते।

## तिलकादयोऽजिरादिषु ॥ ७५ ॥

तिलकादयः शब्दा अजिरादिषु द्रष्टव्याः; अन्यथा तिलकवती कनकवतीत्यादिषु मतुपि "मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्" इति दीर्घत्वं स्यात्। अन्ये तु वर्णयन्ति—"नद्यां मतुप्" इति यो मतुप्, तत्रायं विधिः। तेषां मतं न, अमरावतीत्यादीनामसिद्धेः *। (घ)

## निशम्य-निशमय्यशब्दौ प्रकृतिभेदात् ॥ ७६ ॥

निशम्य-निशमय्येत्येतौ शब्दौ शमेर्ल्यबन्तेऽर्थे। शमेः ल्यपि "ल्यपि लघुपूर्वात्" (६।४।५६ पा०) इत्ययादेशे सति निशमय्येति भवितव्यं, न निशम्येति। आह—प्रकृतिभेदात्। शमेर्दैवादिकस्य निशम्येति रूपम्। "शमो दर्शने" इति चुरादौ णिचि मित्संज्ञकस्य निशमय्येति रूपम्। (न)

---

इति ङ्याप्प्रातिपदिकात्स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् (४।१।२) इत्यनेन सुपि विहिते ङ्याप्प्रातिपदिकात्परतो विकल्पेन लुगविधानाज्जम्बुलतादयः सिद्धा इत्याह—जम्बुलतादय इति।

(घ) तिलकादय इति।—"मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्" (६।३।११९ पा०) इति मतुप्प्रत्यये परतोऽजिरादिवर्जितस्य बह्वचो दीर्घविधानात्तिलकादीनामजिरादिपाठाभ्युपगमेन दीर्घनिषेधात्तिलकवतीत्यादयः सिध्यन्तीत्याह—तिलकादयः शब्दा इति। अजिरादिषु पाठानभ्युपगमे प्रयोगविरोधं प्रदर्शयति—अन्यथेति। परे तु प्रकारान्तरेण प्रयोगं प्रतिष्ठापयन्ति, तेषां मतं दूषयितुमनुभाषते, अन्ये त्विति।—यत्र "नद्यां मतुप्" (४।२।८५ पा०) इति नदीविषये मतुप्प्रत्ययो विधीयते, तत्रायं दीर्घविधिः। तिलकादिषु "तदस्यास्त्यस्मिन्" (५।२।९४ पा०) इति मतुब्विधानात्तिलकवतीत्यादिषु दीर्घाभाव इति वदन्ति। तदेतद्दूषयति—तेषां मतमिति।

(न) निशम्येति।—दिवादिपाठादण्यन्तशमिरेका प्रकृतिः। चुरादिषु पाठात् "शमो दर्शने" (ग०) इति श्रवणार्थे मित्संज्ञको णिजन्तः शमिरपरा प्रकृतिः, अतः प्रकृतिभेदाद्रूपद्वयसिद्धिरित्याह—निशम्येत्यादि।

---

* "तेषां मतेन अमरावतीत्यादीनामसिद्धिः" इति पाठान्तरम्।

## संयम्य-नियम्यशब्दावणिजन्तत्वात् ॥ ७७ ॥

कथं संयम्य-नियम्येति ? ल्यपि, "ल्यपि लघुपूर्वात्" इति णेरयादेशेन भवितव्यम्। आह—अणिजन्तत्वात्। धातोर्णिच् न कृतः, * गतार्थत्वात्। यथा—"वाचं नियच्छति" इति। णिजर्थानवगतौ तु णिच् प्रयुज्यते एव। यथा—"संयमयितुमारब्धः" इति। (प)

## प्रपीयेति पीङः ॥ ७८ ॥

प्रपीयेत्ययं शब्दः "पीङ् पाने" इत्येतस्य। पिबतेर्हि "न ल्यपि" इतीत्वप्रतिषेधात् प्रपायेति भवति। (फ)

## दूरयतीति बहुलग्रहणात् ॥ ७९ ॥

"दूरयत्यवनते विवस्वति" इत्यत्र दूरयतीति कथम् ? णाविष्ठवद्भावे "स्थूलदूर—" (६।४।१५६ पा०) इत्यादिना गुणलोपयोः कृतयोर्दवयतीति भवितव्यम्। आह—बहुलग्रहणात्। "प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च" (ग०) इत्यत्र

(प) संयम्येति।—प्रयोजकव्यापारप्रतीतेरत्र णिचा भवितव्यम्। तस्मिंस्तु सति "ल्यपि लघुपूर्वात्" (६।४।५६ पा०) इति णेरयादेशे संयमय्य नियमय्य इति प्रयोक्तव्यं, कथं संयम्य-नियम्यशब्दाविति अनुयोक्तुरभिप्रायः। शङ्कामिमां शकलयितुं हेतुमाह, अणिजन्तत्वादिति।—णिजभावात् णेरयादेशो न प्रसज्यते इत्यर्थः। ननु प्रयोजकव्यापारप्रतीतौ णिच्प्रत्ययः किं न स्यादित्यत आह, णिच् तु नेति।—गतार्थत्वात् प्रयोजकव्यापारशून्यस्य सकर्मकस्य प्रकृत्यर्थस्य धातुनैवाभिहितत्वादित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह—यथा वाचमिति। यत्र णिजर्थः स्वभावतो नावगम्यते तत्र णिच् प्रयुज्यते एवेति दर्शयति—णिजर्थानवगताविति।

(फ) प्रपीयेति।—"पीङ् पाने" इति धातोर्ल्यबन्तमिदं, न तु पिबतेः, तस्य "न ल्यपि" (६।४।६९ पा०) इतीत्वप्रतिषेधादित्याह—पिबतेरिति।

* "कथं संयम्य-नियम्येति" इत्यत्र "कथं संयम्य-नियम्यशब्दौ" इति तथा "धातोर्णिच् न कृतः" इत्यत्र "धातोर्णिच तु न" इति पाठव्यतिकरः।

बहुलग्रहणात् "स्थूलदूर—" इत्यादिसूत्रेण यद्विहितं, तन्न भविष्यतीति। (ब)

## गच्छतीप्रभृतिष्वनिषेध्यो नुम् ॥ ८० ॥

"हरति हि वनराजीर्गच्छती श्यामभावम्" ॥ २४ ॥

इत्यादिषु गच्छतीप्रभृतिषु शब्देषु "शप्श्यनोर्नित्यम्" इति नुमनिषेध्यो निषेद्धुमशक्यः। (भ)

## मित्रेण गोप्त्रेति पुंवद्भावात् ॥ ८१ ॥

"मित्रेण गोप्त्रा" इति कथम्? गोप्त्रणा इति भवितव्यम्। "इकोऽचि विभक्तौ" (७।१।७३ पा०) इति नुमविधानात्। आह—पुंवद्भावात्। "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य" (७।१।७४ पा०) इति पुंवद्भावेन गोप्त्रेति भवति। (म)

## वेत्स्यसीति पदभङ्गात् ॥ ८२ ॥

"पतितं वेत्स्यसि क्षितौ" इत्यत्र वेत्स्यसीति न सिध्यति, इट्प्रसङ्गात्। आह—पदभङ्गात् सिध्यति। वेत्स्यसीति पदं भज्यते—वेत्सि, असि। असीत्ययं निपातस्त्वमित्यस्मिन्नर्थे। क्वचिद्वाक्यालङ्कारे प्रयुज्यते। (य) यथा—

"पार्थिवस्त्वमसि सत्यमभ्यधाः" इति ॥ २५ ॥

## कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्चेत् ॥ ८३ ॥

---

(ब) दूरयतीति प्रयोगस्य साधुत्वं समर्थयितुं शङ्कामिमामङ्कुरयति—दूरयतीति। शेषं सुगमम्।

(भ) गच्छतीप्रभृतिष्विति।—"शप्श्यनोर्नित्यम्" (७।१।८१ पा०) इति नित्यं नुमागमस्य विधानात् गच्छतीत्यादयो न साधव इत्यर्थः।

(म) मित्रेण गोप्त्रेति।—स्पष्टमवशिष्टम्।

(य) वेत्स्यसीति।—विदेर्ज्ञानार्थस्यानुदात्तोपदेशत्वाभावादिड़ागमेन भवितव्यम्; तथा च वेत्स्यसीति न सिध्यतीति चिन्तायां पदं विभज्य प्रयोगसाधुत्वं समर्थयते—पतितमित्यादिना।

कामयानशब्दः सिद्धः "आगमानुशासनमनित्यम्" इति मुक्यङ्कते, यद्यनादिः स्यात्। (र)

## सौहृद-दौर्हृदशब्दावणि हृन्नावात् ॥ ८४ ॥

सुहृदय-दुर्हृदयशब्दाभ्यां युवादिपाठादणि कृते हृदयस्य हृन्नावे आदिवृद्धौ सौहृद-दौर्हृदशब्दौ भवतः। सुहृद्दुर्हृच्छब्दाभ्यां युवादिपाठादेवाणि कृते "हृन्नर्गासन्ध्वन्ते—" इति हृदन्तस्य तद्धितेऽणि कृते सति उभयपदवृद्धौ सत्यां सौहार्दं दौर्हार्दमिति भवति। (ल)

## विरम इति निपातनात् ॥ ८५ ॥

रमेरनुदात्तोपदेशत्वात् "नोदात्तोपदेशस्य—" इत्यादिना वृद्धिप्रतिषेधस्य अभावात् कथं विरम इति? आह—निपातनात्। निपातनन्तु "यम उपरमे" इत्यत्रोपरमे इति। एतत्तु उपलक्षणम्, अतल्लक्षोपसर्ग इति *। (व)

(र) कामयान इति।—"आगमानुशासनमनित्यम्" इति वचनात् "आने मुक्" (७।२।८२ पा०) इत्यङ्कते मुगागमे कामयान इति। स च प्रामाणिकैः प्रयुक्तश्चेत् साधुरित्यभिप्रायः।

(ल) सौहृद-दौर्हृदशब्दाविति।—शोभनं हृदयं यस्य, दुष्टं हृदयं यस्येति विग्रहसिद्धाभ्यां सुहृदय-दुर्हृदयशब्दाभ्यां भावार्थे "हृदयनात्ययुवादिभ्योऽण्" (५।१।१३० पा०) इत्यणि कृते सति "हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु" (६।३।५० पा०) इति हृदादेशे "तद्धितेष्वचामादेः" (७।२।११७ पा०) इत्यादिवृद्धौ च सत्यां सौहृद-दौर्हृदशब्दौ सिद्धौ। अत्र हृच्छब्दस्य लाक्षणिकत्वात् "हृन्नर्गासन्ध्वन्ते—" (७।३।१९ पा०) इत्यत्र प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणादुभयपदवृद्ध्यभावः। शोभनं हृद् यस्य, दुष्टं हृद् यस्येति विग्रहे सिद्धाभ्यां सुहृद्दुर्हृच्छब्दाभ्यां युवादिपाठादणि कृते "हृन्नर्गासन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" इत्युभयपदवृद्धौ सौहार्दं दौर्हार्दमिति च सिद्धमिति व्याचष्टे—सुहृदय इत्यादिना।

(व) विरम इति।—विरमेर्मान्तत्वेऽपि अनुदात्तोपदेशत्वात्, "नोदात्तोप-

* पुस्तकान्तरे "निपातनन्तु" "एतत्तु उपलक्षणम्" इति पाठद्वयं नास्ति। "अतल्लक्षोपसर्गः" इत्यत्र "अतल्लक्षोपोपसर्गः" इति क्वचित् पाठः।

## उपर्य्यादिषु सामीप्ये द्विरुक्तेषु द्वितीया ॥ ८६ ॥

उपर्य्यादिषु शब्देषु सामीप्ये द्विरुक्तेषु "उपर्य्यध्यधसः सामीप्ये" इत्यनेन "—उपर्य्यादिषु त्रिषु। द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु—" (का०) * इति द्वितीया। वीप्सायान्तु द्विरुक्तेषु षष्ठी एव भवति। (ग)

"उपर्य्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः" ॥ २६ ॥

## मन्दं मन्दमित्यप्रकारार्थत्वे ॥ ८७ ॥ (घ)

"मन्दं मन्दं नुदति पवनः" इति ॥ २७ ॥

अत्र मन्दं मन्दमित्यप्रकारार्थे भवति। प्रकारार्थत्वे तु "प्रकारे गुणवचनस्य" (८।१।१२ पा०) इति द्विर्वचने कृते कर्मधारयवद्भावे च मन्दमन्दमिति प्रयोगः। मन्दं मन्दमित्यत्र तु "नित्यवीप्सयोः" (८।१।४ पा०) इति द्विर्वचनम्। अनेक-

---

देशस्य—" (७।३।३४ पा०) इत्यादिना हृद्भिप्रतिषेधाभावात् हृद्भौ सत्यां विराम इति युक्तं प्रयोक्तुम्; कथं विरम इति प्राप्ते, "यम उपरमे" इत्यत्र निपातनात् सिध्यतीति दर्शयति—रमेरिति। उपरम इति निपातेन विरम इत्यस्य किमायातमिति तत्राह, एतदुक्तमिति।—एतच्च निपातनं सोपसर्गस्य रमेरुपलक्षणमित्यवगन्तव्यम्।

(ग) उपर्य्यादिष्विति।—"उपर्य्यध्यधसः सामीप्ये" (८।१।७ पा०) इत्युपर्य्यादीनां सामीप्यार्थे द्विर्वचनविधानात् द्विरुक्तैस्तैर्योगे सति द्वितीयाविभक्तिर्भवति। वीप्सायान्तु षष्ठीविभक्तिर्भवतीति व्यवस्थामाह, उपर्य्यादिष्विति।—क्रियागुणाभ्यां युगपत् प्रयोक्तुर्व्याप्तुमिच्छा वीप्सा।

(घ) मन्दं मन्दमिति।—निगदव्याख्यानम्।

वीप्साप्रकारार्थयोः प्रयोगद्वयव्यवस्थां प्रतिपादयितुमाह—मन्दं मन्दं नुदतीति ॥ २७ ॥

(ङ) कर्मधारयवद्भावे चेति।—"कर्मधारयवदुत्तरेषु" (८।१।८१ पा०)

---

* "उभसर्वतसोः कार्या धिग्उपर्य्यादिषु त्रिषु। द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥" इति "उपान्वध्याङ्—" (१।४।४८ पा०) इति सूत्रस्य कारिका।

भावात्मकस्य नुदेर्यदा सर्वे भावाः * मन्दत्वेन व्याप्तुमिष्टा भवन्ति, तदा वीप्सेति। (ङ)

**न निद्राद्रुगिति, भष्भावप्राप्तेः ॥ ८८ ॥ (ङ)**

"निद्राद्रुक्षाद्रवेयच्छविरुषरिलसहर्घरी वारिवाहः" ॥ २८ ॥

इत्यत्र निद्राद्रुगिति न युक्तः। "एकाचो वशो भष्—" (८।२।३७ पा०) इति भष्भावप्राप्तेः। अनुप्रासप्रियैस्त्वपभ्रंशः कृतः।

**निष्यन्द † इति षत्वं चिन्त्यम् ॥ ८९ ॥**

न हि अत्र षत्वलक्षणमस्ति। कस्कादिपाठोऽप्यस्य ‡ न निश्चितः। (क)

**नाङ्गुलिसङ्ग इति, मूर्धन्यविधेः ॥ ९० ॥ (ख)**

"म्लायन्त्यङ्गुलिसङ्गेऽपि कोमलाः कुसुमस्रजः" ॥ २९ ॥

इत्यत्राङ्गुलिसङ्ग इति न युक्तः। "समासेऽङ्गुलेः सङ्गः" (८।३।८० पा०) इति मूर्धन्यविधानात्।

---

इत्यनेन कर्मधारयवङ्गावे सुलोपादिर्भवति। अनेकभावविषया व्याप्तुमिच्छा येति वीप्सा; तां दर्शयति—अनेकभावेति।

(ङ) न निद्रेति।—स्पष्टम्।

निद्राभ्रुगिति वक्तव्ये निद्राद्रुगित्यपभ्रंश इत्याह—निद्राद्रुक्षाद्रवेय इति ॥ २८ ॥

(क) निष्यन्द इति।—अत्र षत्वप्राप्तावनुशासनादर्शनात् कस्कादिष्वपि पाठानिश्चयाच्च षत्वं चिन्त्यं निश्चेतुमशक्यमित्याह—न हीति।

(ख) नाङ्गुलिसङ्ग इति।—स्पष्टोऽर्थः।

---

* "अनेकभावात्मकस्य नुदेर्यदा सर्वे भावाः" इत्यत्र "अनेकभागात्मकस्य नुदेर्यदा सर्वे भागाः" इति पाठान्तरम्।

† "निष्यन्दः" इत्यत्र "निष्पन्दः" इति पाठान्तरम्।

‡ "कस्कादिपाठोऽप्यस्य" इत्यत्र "सुषामादिपाठोऽप्यस्य" इति पाठः क्वचित्।

**तेनावन्तिसेनादयः प्रत्युक्ताः ॥ ९१ ॥**

तेनाङ्गुलिसङ्ग इत्यनेन अवन्तिसेन इन्दुसेन एवमादयः शब्दाः प्रयुक्ताः प्रत्याख्याताः। "सुषामादिषु च" "एति संज्ञायामगात्" इति मूर्द्धन्यविधानात्। (ग)

**नेन्द्रवाहने णत्वम्, आहितत्वस्याविवक्षितत्वात् ॥ ९२ ॥ (घ)**

"कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम्" इति ॥ ३० ॥

अत्र इन्द्रवाहनशब्दे "वाहनमाहितात्" इति णत्वं न भवति, आहितत्वस्य अविवक्षितत्वात्। स्वस्वामिभावमात्रं हि अत्र विवक्षितम्; तेन सिद्धमिन्द्रवाहनमिति। (ङ)

---

(ग) तेनेति।—"सुषामादिषु च" (८।३।९८ पा०) इति सूत्रे, "एति संज्ञायामगात्" (८।३।९९ पा०) इति गणसूत्रबलात् एकारपरस्यागकारात् परस्य संज्ञायां विषये मूर्द्धन्यादेशविधानादवन्तिसेनादयः प्रत्याख्याता इत्याह—तेनाङ्गुलिसङ्ग इत्यनेनेति।

(घ) नेन्द्रवाहने णत्वमिति।—सुगमम्।

"चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम्" इत्यादिप्रयोगो दृश्यते ॥ ३० ॥

(ङ) अत्र "वाहनमाहिताग्नि" (८।४।८ पा०) इति सूत्रे आहितवाचि यत् पूर्वपदं तस्मान्निमित्तादुत्तरस्य वाहननकारस्य णकारादेशो विधीयते। वाहने यदारोपितं तदाहितमित्युच्यते, तस्मादिक्षुवाहणमितिवदिन्द्रवाहणमिति प्रयोक्तव्यं, न पुनरिन्द्रवाहनमिति प्राप्ते तन्निषेद्धुमाह, इन्द्रवाहनशब्दे इति।—अयमर्थः,—पूर्वपदार्थस्येक्षुशरादेरिव नेन्द्रस्याहितत्वं विवक्ष्यते, किन्तु इन्द्रस्वामिकं वाहनमिन्द्रवाहनमिति स्वस्वामिसम्बन्धो विवक्ष्यते; ततश्च दाक्षिवाहनमितिवदिन्द्रवाहनमिति सिद्धमिति।

"सदसन्तो मया शब्दा विविच्यैवं निदर्शिताः *।
अनयैव दिशा कार्य्यं शेषाणामप्यवेक्षणम्" ॥ ३१ ॥

इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ प्रायोगिके पञ्चमेऽधिकरणे शब्दशुद्धिनाम
द्वितीयोऽध्यायः।

## समाप्तश्चेदं प्रायोगिकं पञ्चममधिकरणम्।

सदसन्त इति।—एवम् उक्तप्रकारेण, साधवश्चासाधवश्च शब्दा विविच्य पृथक्कृत्य, निदर्शिता उदाहृताः। अनयैव दिशा अस्मदुक्तेनैव सदसद्विवेकमार्गेण, शेषाणामनुक्तानां सतामसतां च शब्दानाम्, अवेक्षणं पर्य्यालोचनं, कार्य्यं कर्त्तव्यमिति भद्रम् ॥ ३१ ॥

इत्थं समिद्धगुणसम्पदि वामनस्य
प्रस्थानसीमनि चिरादलसोज्झितायाम्।
व्याख्यानपद्धतिरियं व्यवहारहेतो-
र्निष्काण्टका निपुणमारचिता कवीनाम् ॥

न्यायोक्तिवीचिनिचयेन कुतर्कजाल-
कूलङ्कषेण गहने गुणरत्नगर्भे।
सारस्वतामृतसरस्वति नावमेना-
मालम्ब्य रन्तुमनसो विचरन्तु धीराः ॥

पदे कैश्चिद्वाक्ये कतिचन परे मान इतरे
कवित्वेऽलङ्कारे कतिचन परे नाट्यनिगमे।
भजन्ति प्रागल्भ्यं न खलु वयमेतेषु गणिता
बहुकुर्वन्त्येते बुधसदसि नः किन्तु सुधियः ॥

शब्दार्थौ चरणौ प्रतीकविसरो वाक्यानि गुम्फो लस-
न्मूर्त्तिर्वस्तु शिरः परिष्कृतिरलङ्कारोऽसवो रीतयः।
यस्याः स्वीयगुणा गुणाः सुरुचिराः शृङ्गारचेष्टादयो
रम्याष्टादश वर्णनाः कृतिवधूः सेयं जगन्मोहिनी ॥

* "विविच्यैवं निदर्शिताः" इत्यत्र "विधिनाऽल्पेन दर्शिताः" इति पाठान्तरम्।

इति कृतरचनायामिन्दुवंशीद्वहेन
विपुरहरधरित्रीमण्डलाखण्डलेन ।
ललितवचसि काव्यालङ्क्रियाकामधेना-
वधिकरणमयासीत् पञ्चमं पूर्त्तिमेतत् ॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्ति-
व्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ प्रायोगिकं नाम
पञ्चममधिकरणम् ॥ ५ ॥

